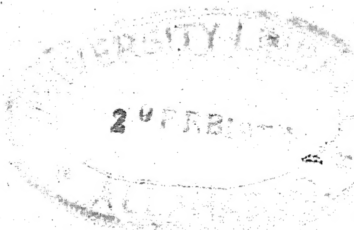
सियारामशरण गुप्त

[श्री सियारामशरण गुप्त के साहित्यिक व्यक्तित्व
तथा कृतित्व का अध्ययन]

सम्पादक

डा० नगेन्द्र एम. ए., डी. लिट्.



प्रकाशक

गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

प्रकाशक
गौतम बुकडिपो
नई सड़क, दिल्ली।

प्रथम संस्करण
१९५०
मूल्य : [illegible] रुपये

मुद्रक
नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली

निवेदन

"श्री सियाराम शरण गुप्त लगभग ३०-३५ वर्ष से निरन्तर हमारे साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहे हैं। उनका साहित्य गुण और परिमाण दोनों की ही दृष्टि से अत्यन्त वरेण्य है। उनके तपःपूत काव्य-जीवन और उससे उद्भूत पावन जीवन-दर्शन का अपना पृथक् वैशिष्ट्य है, जिसका उचित मूल्यांकन अभी हिन्दी में नहीं हुआ।" इसी उद्देश्य को सामने रखकर आज से कोई ८-६ महीने पहले एक योजना बनाई गई थी।

प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिणाम है। इससे उक्त उद्देश्य की कहाँ तक पूर्ति होती है, इसका निर्णय तो सियाराम-साहित्य के प्रेमी और मर्मज्ञ ही करेंगे। परन्तु मुझे अपने प्रयत्न पर सन्तोष ही है: "यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।"

इस पुस्तक में मैं मुख्यतः श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन तथा श्री बालकृष्ण राव के लेख और रखना चाहता था, परन्तु अत्यन्त धैर्यपूर्वक अनवरत प्रयत्न करने पर भी मेरी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी।

अन्त में, मैं अपने सभी सहयोगियों के प्रति सविनय आभार प्रकट करता हूँ। वास्तव में इस ग्रंथ के सम्पादन की कहानी उनके सहयोग की ही कहानी है। इस ग्रंथ की रचना उन्होंने ही की है—मैंने तो ग्रंथन मात्र किया है।

आरम्भिक योजना और रूप-रेखा आदि के निर्माण में मैंने श्री जैनेन्द्र कुमार तथा श्री बालकृष्ण राव के सत्परामर्श और सहयोग से लाभ उठाया है—इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूं।

शरद पूर्णिमा
दिल्ली।

नगेन्द्र

क्रम

भाग १

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व

[पृष्ठ १ से पृष्ठ ३२ तक]

भाग २

आलोचना

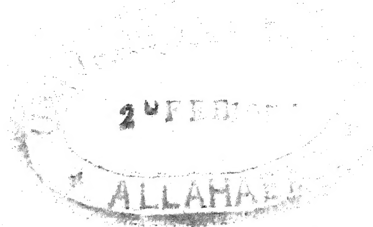
[पृष्ठ ३३ से पृष्ठ १५५ तक]

भाग ३

प्रमुख कृतियाँ

[पृष्ठ १५७ से पृष्ठ २१३ तक]





भाग १

जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व

अनुज

[श्री मैथिलीशरण गुप्त]

प्रिय नगेन्द्र जी का आग्रह है, मैं सियारामशरण के जीवन के सम्बन्ध में कुछ लिख दूँ। यह उनके स्नेह के अनुरूप ही है। परन्तु इधर मैं बहुत अलसाने लगा हूँ। कभी दो-चार पद्य लिख देना दूसरी बात है। मेरी दुर्बल स्मृति भी, दैनिकी के अभाव में, अकेली-सी पड़कर असहाय है। मैं यह तो नहीं मानता कि बाह्य दृष्टि से वह काल सुस्मरणीय न होने के कारण मैंने स्वयं अज्ञातरूप से अपनी स्मृति कृश कर ली है। यह ठीक है कि हमारा परिवार धन से ऋण की दशा में आ गया था, परन्तु बीते हुए दुःख भी सुखद होते हैं। तथापि मनुष्य की शक्तियों का क्षय भी शरीर का एक धर्म होता है।

सबसे बढ़कर तटस्थता का भी मुझ में अभाव है। जीवन के मिले-जुले प्रवाह में घटनाएँ आती और बह जाती हैं। हम दोनों इतने निकट हैं कि अलग से उन्हें देखना मेरे लिए असम्भव-सा है। उनका सहज होना ही, प्रस्तुत प्रसंग में, मेरे लिए कठिन हो गया है। एक बार स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने की चेष्टा मैंने की थी; परन्तु काम चला नहीं। इस असफलता का मुझे कोई खेद भी नहीं।

सियाराम ने अपनी बाल्य-स्मृति में जो कुछ लिखा है उसे मैंने अभी फिर एक बार पढ़ा। इसलिए कि उसीसे कुछ सूत्र मुझे मिल जाय और उनके सहारे मैं नगेन्द्र जी का आग्रह रख सकूँ। परन्तु जैसा उन्होंने लिखा है, मुझे स्मरण नहीं आता, मैंने उनकी कौन-सी प्रारम्भिक रचना ठीक की थी। हाँ, उनकी एक अन्य कविता उन्हीं ने 'मौर्य-विजय' के रूप में अवश्य परिवर्तित कराई थी। मैं स्वयं उस विषय पर लिखना चाहता था और उन दिनों ऐसे कथानकों की खोज में रहता था।

उनके शैशव का एक स्मरण आज भी मुझे है। उनके पैर में एक भयानक फोड़ा हुआ था। जिस दिन उसमें चीरा लगाये जाने की बात थी उसी दिन वह अपने-आप फूट गया। इतनी पीव निकली कि मानों उनका सारा शरीर ही निचुड़ गया। सम्भव है, उसी के कारण उनकी बाढ़ मारी गई हो। ऊँचाई में वे मेरी अपेक्षा बहुत छोटे रह गये।

जान पड़ता है उस समय जिस फोड़े ने उनका पैर पकड़ा था उसकी पीड़ा को वे आज भी अपने हृदय में आश्रय दिये जा रहे हैं।

अवस्था में वे मुझसे दस वर्ष छोटे हैं और विद्या के क्षेत्र में उतने ही बड़े। तीन-चार वर्ष हिंदी की परीक्षाओं में, शेष स्वयं शिक्षा प्राप्त करने में। भिन्न-भिन्न समय में मैंने भी कुछ प्रयास किया है। परन्तु निष्फल होने से वह नगण्य ही रहा। फिर भी जब वे अपने छोटों में अपना बड़प्पन रखते हैं तब मैं ही उनके बड़े होने का अधिकार कैसे छोड़ सकता हूँ।

साधारण और विशिष्ट जनों के बाल्यकाल की बहुत-सी बातें एक-सी होती हैं। परिस्थितियों की भिन्नता के कारण उनके परिणाम भिन्न हुआ करते हैं। अपने कुल के संस्कार भी होते हैं। इधर बौद्धिक हो जाने पर भी सियाराम-शरण अश्रद्ध अथवा अभावुक नहीं।

खेल-कूद की ओर बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु अपने अनुज का यह भाग मैंने मानों पहले ही हथिया लिया था। उनका कोई उपद्रव स्मरणीय नहीं। चोट-झपेट उनका काम न था। जैनेन्द्रजी के कथनानुसार उनकी यह न्यूनता उनकी रचनाओं में भी बनी है। वे आघात नहीं कर सकते। 'परे-ङ्गितज्ञान फला हीं बुद्धयः' के अनुसार कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनके इशारे हमसे अक्लमंदी की आशा करते हों!

जिज्ञासा उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। एक बार हमारा एक मृग-शावक मर गया। उसके सम्बन्ध में, 'दाऊजू, वो हिन्न काँ गओ' (दाऊजू, वह हिरन कहाँ गया) से आरम्भ करके वे पिता जी से प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगे। अन्त में उसे उठा ले जानेवालों के विषय में उन्होंने पूछा—वे उसका क्या करेंगे? पिताजी को यह प्रसंग प्रिय न था। फिर भी, वे किसी प्रकार उत्तर दे रहे थे। इस बार उनकी वैष्णवता क्षुब्ध हो उठी। इसी बीच मेरे बाल्य-बन्धु मुंशी अजमेरी आ गये थे। पिताजी ने उनकी ओर देखकर कहा, "क्यों जी, तुम देख रहे हो,

ये हमसे कैसी बातें पूछ रहे हैं। इन्हें रोकते नहीं हो।" अजमेरी ने हँसकर कहा, "आप ही तो उत्तर दे-दे कर इन्हें उत्साहित कर रहे हैं।" यह कहकर और सियारामशरण को गोद में उठाकर वे वहाँ से खिसक आये।

शारीरिक स्फूर्ति के अभाव में उनकी कल्पना और भी स्फुरित हो उठी हो तो आश्चर्य नहीं। सम्भव है, आरम्भ से ही अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने उन्हें बाह्य विषयों से विमुख बना दिया हो। मिट्टी के हाथी के पोले पेट में चींटी को बन्द करके वे हाथी को गतिशील भले ही न बना सके हों, हाथी पर चढ़ने का लोभ उन्हें कभी नहीं हुआ। अब तो उनके निकट उसका कोई महत्त्व भी नहीं। बाहर आने-जाने का भी उन्हें वैसा उत्साह न था। अपने मुन्शीजी वाले लेख में उन्होंने फुसलाकर बाहर ले जाने की बात कही भी है।

मन्त्र-बल से अक्षय भंडार प्राप्त करने की उनकी चेष्टा भी कौतूहलजन्य ही समझनी चाहिए। मैं भी कुछ दिन इस फेर में रहा था। विशेषकर सरस्वती को सिद्ध करने के स्वप्न में। इन्द्रजाल नामक लीथो के छपे एक गुटके के पन्ने भी चमत्कारों पर अधिकार प्राप्त करने की आशा से मैं उल्टा करता था। कहते हैं, जो जाति पुरुषार्थहीन हो जाती है वह मन्त्र-बल से मायापुरी निर्माण करने की बातें सोचा करती है। फिर भी बच्चों की इस प्रकार की चेष्टा क्षम्य ही समझनी चाहिये।

बचपन में हम लोग मोतियों के झुमके, जिनका बोझ सँभालने के लिए मोतियों की ही दुहरी साँकलें कानों पर चढ़ी रहती थीं, पहना करते थे। पैरों में चाँदी के कड़े, तोड़े, हाथों में सोने के कड़े, पोंहचियाँ और गले में गोप गुंज एवं कंठे आदि भी समय-समय पर पहना करते थे। सिरों पर मंडील भी बँधवाते थे। सियारामशरण भी इसके अपवाद न थे। उनका ऐसा कोई फ़ोटोग्राफ़ भी कहीं होगा। अब तो मैं समझता हूँ, किसी ग्रह-शान्ति के लिए रत्न विशेष की अँगूठी पहनना भी उनके मनोनुकूल न होगा। घर के लड़के भी अब गहनों से मुक्ति पा गये हैं। कुंडल गये तो कर्णवेध की बाधा भी उनके साथ चली गई। हमारे अँगरखों के घेर में चारों ओर गोटे-पट्टे और पीठ तथा बाहों पर सुनहले पान-पत्ते टँके होते थे। परन्तु उन कपड़ों का मूल्य स्यात् उतना भी न होता होगा जितना आजकल लड़के एक कोट की सिलाई दे आते हैं और थोड़े में बहुत

करा लेने का गर्व करते हैं। हमारे अँगरखों के साथ सुथने भी होते थे, परन्तु वे प्रायः कोरे ही रहते थे। उन्हें पहनकर कौन गाँव के लड़कों से यह सुनता कि बीबी के सूथने में चार-चार चीलर।

मेरे लिए यह चिढ़ाना अभी तक बना है। गत महायुद्ध के दिनों में कपड़े की कठिनाई खादी के कारण हम लोगों को उतनी नहीं व्यापी थी। फिर भी मैंने सोचा, धोती की अपेक्षा सुथने में थोड़ा कपड़ा लगेगा। परन्तु उसे पहने देखकर प्रयाग में महादेवी जी ने हँसकर कहा, "पाजामा पहने आप नेता-जैसे लगते हैं।" घर आकर मैंने अपने सबसे छोटे भाई चारुशीलाशरण से, जो हम लोगों के लिए खादी का प्रबन्ध करते हैं, कहा, "सुथना नहीं चलेगा। महादेवी जी रुष्ट होती हैं।" महादेवी जी ने मुझे नेता तो न बनने दिया, परन्तु कठिनाई हुई उस दिन जिस दिन झाँसी में अपने प्रदेशपाल किंवा गवर्नर महोदय की पार्टी में सम्मलित होने का अवसर आया। मैं उस सौभाग्य से वंचित ही रह जाता, यदि तत्रभवान् मुझे धोती पहनकर आने की आज्ञा देने की कृपा न करते।

स्मरण आता है, विद्यारम्भ के प्रारम्भिक दिनों में एक-दो बार सियारामशरण को पाठशाला तक पहुँचा आने में मैंने उनके अभिभावक होने का अभिमान किया था। मानो मैं स्वयं सब-कुछ पढ़-पढ़ाकर अब अपने छोटे भाई की देख-रेख में लगा हूँ।

उन दिनों प्रारम्भिक पाठशालाओं में दोनों समय पढ़ाई होती थी। प्रातःकाल अचार के साथ पूरी का कलेवा करके जाना, दोपहर को भोजन के लिए आना और संध्या को छुट्टी पाना। परन्तु तब भी छुट्टी कहाँ थी? रात को भी पंडितजी पढ़ाने आते थे। यही क्रम तो सियारामशरण का भी रहा। कलेवे में हम लोग बहुधा बासी पूरियों का सेवन करते हैं और वह हमें रुचिकर भी होता है। कहते हैं, एक बार गुरुदेव के पूरी खाने पर बापू ने उनसे कहा था, "यह तो विष है। गुरुदेव ने हँसकर उत्तर दिया, "परन्तु यह ऐसा विष है, जिसका हमारे शरीर को अभ्यास हो गया है।"

आगे चलकर सियारामशरण उन साप्ताहिक और मासिक पत्रों को भी उलटने-पुलटने लगे जो उन दिनों हमारे यहाँ आया करते थे। विशेषकर 'सरस्वती' के लिए वे बहुत उत्सुक रहा करते थे। अन्य आकर्षणों के साथ

उसमें मेरे पद्य भी छपा करते थे, जिनमें से अधिकांश उनके कंठस्थ हो जाते थे।

प्राइमरी पाठशाला की पढ़ाई पूरी करके आगे पढ़ने का सुयोग वे न पा सके। कह नहीं सकता, इसमें हमारी अर्थकृच्छ्रता कितनी आड़े आई थी। उन दिनों हमारे छोटे कक्का थे, पहले से ही घर का सारा भार उन्हीं पर था। वे ऐसी बाधा से हार माननेवाले न थे। तथापि यह ठीक है कि हमारी झाँसी की दुकान का काम-काज बंद हो गया था। सियारामशरण की देखभाल करनेवाला कोई विश्वासी जन वहाँ न था। हाईस्कूल में उन दिनों बोर्डिंग भी न था। होता भी तो उसमें उनका रखना सम्मानजनक न समझा जाता। जिस स्कूल के बनने में हमारे घर से अधिक दान दिया गया था, उसमें उनका इस प्रकार रहना कदाचित् हीनतासूचक समझा जाता। इसके पूर्व उस स्कूल में पढ़ने के लिए मैं झाँसी भेजा गया था। परन्तु बहुत-सा धन नष्ट करके कोरा-का-कोरा लौट आया था अथवा लौटा लिया गया था। इस भय से कि शहर की संगति में कहीं आगे और भी न बिगड़ जाऊँ। खेल-कूद तक तो कुशलता थी। इस प्रकार, सम्भव यही है कि परोक्ष रूप में, मैं ही अपने अनुज के शिक्षा-लाभ में बाधक बना।

घर की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यापार के साधन न रह जाने से हम सभी भाई प्रायः बैठे ठाले थे। सियारामशरण साहित्य-सदन की कुछ लिखा-पढ़ी करने लगे। ठाकुर जी की पूजा का भार भी उन्हीं पर आ गया। हम लोगों को पान खिलाना भी उनका काम था। इसे अस्वस्थ होने पर भी वे आग्रहपूर्वक बहुत दिनों तक करते रहे।

साहित्य की ओर पहले से ही उनकी प्रवृत्ति थी। साहित्य-सदन का काम भी कितना था। सुतरामम् रचना के लिए समय का अभाव उन्हें न था। परन्तु जैसा उन्होंने बाल्य-स्मृति में लिखा है, अपनी पद्य-रचना लेकर वे सीधे मेरे निकट नहीं आये। फिर भी यह एक ऐसी मिठाई थी जो अकेले-अकेले नहीं खाई जा सकती थी। यही नहीं दूसरों को खिलाकर ही इसमें तृप्ति मिल सकती थी। परन्तु भय-संकोच भी थोड़ा न था। मध्यकाल में हमारे संगीत और साहित्य की जो दुर्दशा हो गई थी उसे देखते हुए लोग कला की कितनी ही प्रशंसा क्यों न करें, कलाकारों के प्रति उनकी वैसी आस्था नहीं रह गई थी। जिस पथ में चरित्र के पतन की आशंका हो उसमें कौन गृहस्थ अपने घर के लड़के का जाना ठीक समझेगा। स्वयं

कलाकार जब उघाड़ा होकर बाहर नहीं निकलता तब सहसा अपने मन का आवरण सबके सम्मुख क्योंकर हटा सकता है। अथवा कला एकान्त की ही साधना है। बाहर आये बिना यदि उसकी गति नहीं तो क्या आरम्भ में उसे संकोच भी न हो ? प्रतिभा जब पागलपन की ही एक अवस्था मानी जाती है तब कौन अकस्मात् उसका प्रदर्शन करने से संकुचित न होगा ? अपने कृतित्व की परीक्षा में उत्सुकता के साथ एक शंका भी रहती है। जो हो, मुझे एक सतीर्थ मिल जाने से संतोष ही हुआ। जितना सहयोग मैं दे सकता था मैंने उन्हें दिया। मेरे लिए इससे अधिक क्या संतोष होगा कि आज वह सहयोग हम दोनों में पारस्परिक हो गया है।

वस्तुतः मेरे सहयोग की सीमा कवित्व के ककहरे तक ही समझनी चाहिए। शीघ्र ही वे गुरुदेव की रचनाओं के सम्पर्क में आ गये और उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया। यों तो अब भी उनकी रचनाएँ छपने से पहले एकाधिक बार मैं पढ़ लिया करता हूँ; परन्तु मेरे किसी संशोधन अथवा परिवर्तन को मान लेने के लिए वे बाध्य नहीं। यही उचित भी है।

पद्य के क्षेत्र से आगे बढ़कर उन्होंने गद्य में कहानियाँ और निबन्ध आदि भी लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसमें एक दो सम्पर्कित लोगों से उन्हें जो सम्मतियाँ मिलीं वे आशाप्रद न थीं। परन्तु मेरा मन हर्षित और आकर्षित था। मैंने उनसे कहा, "तुम्हें तनिक भी हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे इन समीक्षकों में एक अपने मन से और दूसरा अपनी बुद्धि से विवश है।"

अब तो उनमें इतना आत्म-विश्वास है कि वे अपने प्रकाशन के व्यवसाय को भी स्वार्थ के साथ परमार्थ का साधन मानते हैं।

साहित्य-प्रेस की स्थापना के विचार में भी वे ही अधिक उत्साही हुए। एक क्राउन फ़ोलियो ट्रेडिल लेकर ही कार्य आरम्भ करने की उनकी योजना थी। परन्तु जब मशीन लगाने का निश्चय हुआ तब वह भी मेरा एक व्यसन बन गया। थोड़े दिन हुए, उनके पुत्रोपम चि० राय आनन्दकृष्ण ने उनकी उस योजना का औचित्य शारदा-मुद्रण से सिद्ध कर दिया।

यौवन के आरम्भ में ही सियारामशरण को श्वास का दुर्द्धर रोग हुआ। बीच-बीच में उनका कष्ट देखकर हम लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। किन्तु तनिक प्रकृतिस्थ होते ही वे कुछ लिखने-पढ़ने की चेष्टा करते हैं। इसी स्थिति में उन्होंने अपने-आप अँगरेजी का भी इतना अभ्यास कर लिया है कि वे उसके

साहित्य का रस ले सकते हैं। कभी-कभी मुझे भी उसमें से कुछ देते हैं। बंगला तो वे अनायास ही पढ़ने लगे थे। परन्तु उर्दू के विषय में दाग़ की वह उक्ति उन पर पूरी-पूरी घटित हुई कि उर्दू खेल नहीं है, आते-आते आती है। एक बार बापू के निर्देशानुसार उन्होंने उसे सीखना चाहा था परन्तु अचानक रोग का दौरा हो जाने से काम रुका सो रुका। वस्तुतः उर्दू की चुलबुलाहट उनके स्वभाव से मेल नहीं खाती। जो लोग अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का जानना अनिवार्य बताते हैं, उनकी दृष्टि में वे दयनीय हैं। इसलिए कि ऐसे लोग हिन्दी का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार करते हैं।

वे प्रायः भूमि पर सोते हैं। विशेषकर जाड़ों में। उनके आस-पास एक ओर कुछ पुस्तकें और दूसरी ओर बहुत-सी ओषधियाँ रहती हैं। आरम्भ में उन्होंने जलचिकित्सा आदि कितने ही प्राकृतिक उपचार किये। प्राणायाम करने की चेष्टा की और फेफड़ों के व्यायाम के लिए दस-बीस दिन स्वरालाप करते हुए भी मैंने उन्हे देखा। पहले वे संध्या समय घूमने जाते थे। अब आँगन में टहल-कर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ता है।

भोजन-सम्बन्धी प्रयोग वे अब भी किया करते हैं। इस विषय में उन्हें कोई विशेष रुचि अथवा आग्रह नहीं। पहले आम की खटाई उन्होंने साग की भाँति खाई है। अब मीठे आम खाने से भी वे डरते हैं। भोजन की भाँति वस्त्रों में भी वे साधारण हैं और खादी का ही व्यवहार करते हैं। उन्हें खेद है कि वे सूत नहीं कात पाते। रुई के सूक्ष्म तन्तु उड़-उड़कर श्वास नली में जाने से उनके रोग बढ़ने का भय रहता है। वस्तुतः रुई से उन्हें छोटे से ही गिजगिजाहट लगती है। और रुई भरे कपड़ों की आवश्यकता वे कम्बल आदि से ही पूरी करते हैं। तनिक भी भारी वस्त्र ओढ़कर चलने में उन्हें कष्ट होता है। वे उसे सँभाल नहीं पाते। अंडी की एक चादर से ही काम चलाते हैं। मैंने हठपूर्वक एक तूस ला दिया। उसका व्यवहार करने में उन्हें संकोच ही होता है। उनके रोग की अव्यर्थ औषधि अभी तक नहीं निकली। पं० मोतीलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री किशोरलाल मश्रूवाला, चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी और डा० राजेन्द्रप्रसाद के अनुभवों से भी उन्हें वैसा लाभ नहीं हुआ। इधर ओषधियों के विष से उनके शरीर की दशा और भी चिन्तनीय हो गई है। श्री मश्रूवाला ने उन्हें बम्बई बुलाकर वहाँ उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध कर देने की कृपा की है और इन दिनों वे वहीं हैं।

इस स्थिति में भी लोग उनसे अपने पत्रों के लिए लेख और कविता आदि

भेजने के लिए आग्रह करते हैं और उनकी असमर्थता उनकी व्यग्रता को और भी बढ़ा देती है।

रोग ने उनका शरीर जर्जर कर दिया है; परन्तु उनका मन मानो और भी निखरकर खरा और सतेज होता जान पड़ता है। वे कभी निराश नहीं होते। आश्चर्य नहीं, यदि अपने समय के देशमान्य महानुभावों को भी अपने रोग से ग्रस्त देखकर उसे भी महत्व देते हों। प्रत्येक न्यूनता का एक विशेष पक्ष भी होता है, वे उसकी उपेक्षा नहीं करते। उसे भी बखानते हैं, खोटे में भी एक खरा खोजने का प्रयास करते हैं।

इदानीम् बम्बई की अपनी रोग-शैय्या से उन्होंने अपने भतीजे श्रीनिवास की जन्मतिथि पर उन्हें असीसते हुए लिखा है—"ऐसी तिथियाँ आत्मचिन्तन के लिए होती हैं। परन्तु हम प्रायः भटककर यही सोचने लगते हैं कि हमारी ये आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुई और संसार ने हमारी ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया। इसके स्थान पर इस बात का सन्तोष उचित है कि हमें बहुतों से अधिक मिला है, असन्तोष तो इसी का होना उचित है कि हित हमसे उतना नहीं हो पाया जितना होना था। मैं तुम्हें ये बातें उपदेश देने के लिए नहीं लिख रहा हूँ, इस अस्पताल में जब मैं श्वास की तीव्र वेदना से व्याकुल होता हूँ तब यही विचार शान्ति देते हैं। मैं अनुभव करता हूँ, मुझे जो भयंकर पीड़ा होती है उससे भी अधिक पीड़ित जन यहाँ हैं, उनकी पीड़ा की अनुभूति निज की पीड़ा का शमन करती हैं।"

जिन दिनों हम लोग राजबन्दी के रूप में कारारुद्ध थे, उन दिनों न जाने वे कैसे अपनी व्याधि भूल-से गये थे और शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के भार सह गये थे। इस स्थिति में दुःख के बदले दर्प ही उनमें प्रकट हो गया था।

मैं ठीक नहीं कह सकता, गुरुदेव और बापू दोनों में वे किससे अधिक प्रभावित हुए। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनके लिखने की शैली अलंकृत भाषा की दृष्टि से गुरुदेव की अनुयायिनी है और उनके भाव बापू के अनुयायी हैं। बापू का सामीप्य तो उन्हें अनेक बार प्राप्त हुआ, परन्तु इच्छा रखते हुए भी वे शान्तिनिकेतन नहीं पहुँच सके। उन्हें इसका दुःख अब भी है।

उस बार हिन्दुस्तानी सम्मेलन में आहूत होकर वे वर्धा गये थे। सम्मेलन के उनके अनुभव अच्छे न थे। परन्तु वे वस्तुतः बापू के लिए ही वहाँ गये

थे। अतएव उनकी यात्रा सफल थी। अन्तिम दिन चलने के पूर्व जब वे बापू को प्रणाम करने गये तब वहाँ नन्दिनी नाम की एक बालिका को थपथपाकर उन्होंने उससे कहा—बेटी नन्दिनी, अब बापू तेरा नाम खुशहाली रखने जा रहे हैं। इसे सुनकर उनकी ओर मुष्टि प्रहार का अभिनय करते हुए बापू हँस पड़े।

इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन में भी वे वर्धा से ही बापू के साथ गये थे। एक दिन वहाँ का कृषि-विभाग देखने भी गये। जहाँ खाद बनाया जाता था, वहाँ पहुँचकर उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो हम नरक में आ गये हैं। उनका कहना है, कई दिनों तक वहाँ की दुर्गन्धि हम लोगों के माथों में छाई रही। परन्तु बापू का एकबार नासा संकोच भी नहीं हुआ! इन्द्रियों पर उनका यह अधिकार अद्‌भुत था। इसी प्रसंग में उन्होंने एक घटना और भी सुनाई थी। वहाँ सेठ हुकमचन्द जी ने बहुत-से लोगों को भोजन का निमंत्रण दिया था। सबके लिए चाँदी के थाल कटोरे आदि तो थे ही, बा और बापू के लिए सोने के थाल सजाये गये थे। जब बापू अपनी मंडली के साथ वहाँ पहुँचे तब दिखाई पड़ा सेठजी ससंभ्रम कह रहे थे 'अरे लाओ रे!' कक्ष में प्रविष्ट होते-होते बापू ने हँसकर कहा—क्या सोफे पर बिछाने के लिए खादी? इसी समय सचमुच एक सेवक एक खादी का टुकड़ा लिये वहाँ आ पहुँचा। सियारामशरण को लगा, एक ओर इतना वैभव और एक ओर टुकड़े का ऊहापोह! सेठजी के खादी बिछाने के पहले ही बापू मखमली सोफे पर बैठ गये; परन्तु भोजन उन्होंने सोने के थाल में स्वीकार नहीं किया। अगत्या मीराबहन को उस पर बैठाया गया। अन्त में सेठानीजी गुड़ परोसने आईं। सेठ हीरालालजी ने सियारामशरण से कहा—"ये हमारी माताजी हैं।" सबने प्रसन्नतापूर्वक वह प्रसाद ग्रहण किया।

सियारामशरण की इच्छा रही है कि कुछ बालकों को लेकर उन्हें रचनात्मक शिक्षा देने के लिए एक छोटी-सी संस्था चलाई जाय। इसके लिए उपयुक्त स्थान की बात भी उन्होंने सोची। परन्तु उनके स्वास्थ्य ने साथ न दिया। स्वतंत्रता प्राप्त होने के कुछ दिन पहले यहाँ के गणेशशंकर हृदय-तीर्थ का शिलान्यास करने के लिए कृपापूर्वक पं० जवाहरलाल जी आये थे। तब पंडितजी से भी उन्होंने कहा था कि कुछ युवकों को अपने आदर्श के अनुरूप शिक्षित करने का समय आप निकाल सकें तो बड़ा अच्छा हो। पंडितजी

सुनकर मुसकरा गये। वे पहले ही बहुत व्यस्त थे। यह तो भावी पीढ़ी का काम है कि उनका आदर्श अपनाकर उसकी रक्षा करें !

महायुद्ध के समाचारों में रेडियो द्वारा दोनों ओर से बमबारी का बखान सुन-सुनकर सियारामशरण के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसी का परिणाम उनका 'उन्मुक्त' है। जिस सामूहिक हत्या के लिए दोनों पक्षों को लज्जा होनी चाहिए थी, उसी पर वे घमंड करते थे। वह भी विश्व-शान्ति के नाम पर। अपने 'नकुल' काव्य में सियारामशरण ने जो लिखा है वह भी इस प्रसंग में स्मरणीय है :

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे स्वयमपि जो विष में।

बिना अभियोग आघात किये उदात्त भावों की अभिव्यक्ति किस प्रकार हो सकती है, 'नकुल' के युधिष्ठिर में मानो इसका प्रमाण उन्होंने दिया है। औद्धत्य की अपेक्षा विनय में निजत्व की रक्षा कठिन होती है। 'नकुल' में मनुष्य की उदार परम्परा की अक्षयता का अपना विश्वास भी उन्होंने प्रकट किया है। परन्तु कुबेर के सेवक का जो चित्रण उन्होंने किया है उसमें एक स्थान पर उनसे मेरा मतभेद रहा है।

देश में इतनी बड़ी घटना घट गई, हम लोग परचक्र में पिसने से मुक्ति पा गये और भारत स्वतन्त्र हो गया। परन्तु हमने उसका महत्त्व नहीं समझा। इससे उन्हें पीड़ा होती है कि अपना कर्त्तव्य निभाना तो दूर, हम अपने अधिकारी नेताओं पर उल्टा-व्यंग्य विद्रूप करते हैं। उनके मत में कठिनाइयाँ स्वाभाविक हैं। आगे चलकर वह वे स्वयं दूर हो जायँगी। हमारी दासता के दोष मिटते-मिटते मिटेंगे। जो लोग स्वयं कुछ नहीं करते अथवा जो अपनी ही घात में रहते हैं वे ही दूसरों के द्वारा हथेली पर उगाई सरसों देखना चाहते हैं। स्वार्थी, व्यवसायी और राज्य के सेवक जब ऐसी-वैसी बातें करते हैं तब बहुधा वे उत्तेजित हो उठते हैं। वे बहुत विनीत हैं परन्तु अपनी बात कहने का साहस उनमें है। एक बार किसी प्रसंग में सहसा वे मुझसे कहने लगे, "तुम तो कभी-कभी बापू के विरोधी पक्ष के स्तर पर-उतरकर बोलने लगते हो।"

श्री सुभाषचन्द्र बसु जब उत्तरप्रदेश में दौरे चिरगाँव पधारे थे, उसके कुछ ही पहले बंगाल में गाँधीजी के साथ दुर्व्यवहार किया गया था। अपने स्वागत-भाषण में सियारामशरण ने सुभाष बाबू से उसका प्रायश्चित्त करने

की माँग की थी। उनके उस भाषण की उन दिनों बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगों ने उसे मेरा भाषण समझ लिया था। मैं उन दिनों काशी में था। एक दिन एक सज्जन ने मार्ग में भेंट हो जाने पर मुझ से कहा, "अरे गुप्तजी आप कब आ गये ? अभी तो चिरगाँव में सुभाष बाबू का स्वागत-भाषण पढ़ रहे थे।" मेरे बड़े होने का यह लाभ था और सियारामशरण का छोटे होने का त्याग !

दिल्ली के बिरला-भवन में, जहाँ बापू की हत्या हुई थी, वे जिस भाव से गये थे उसके विपरीत बातें देखकर उन्हें बड़ी चोट लगी। श्री घनश्यामदास बिरला से इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा-पढ़ी की। उनकी आशा के विरुद्ध घनश्यामदासजी ने उनकी सद्भावना इस रूप मे ग्रहण की कि अपने नाम लिखे गये उनके पत्रों के प्रकाशन की अनुमति भी उन्होंने नहीं दी। अपनी 'अंजलि और अर्घ्य' नाम की रचना में बापू की निधन-भूमि के विषय में भी मैंने दो पंक्तियाँ लिखी थीं। मैं समझता था इससे सियारामशरण को सन्तोष होगा परन्तु उन्होंने उस पद्य को न रखने के लिए कहा। उनकी भावना होगी कि हमारा श्राद्ध-कर्म क्षोभ-रहित होना चाहिए। परन्तु जहाँ गोडसे का नाम लेना पड़ता है, वहाँ बिरला-भवन का नाम क्यों नहीं लिया जा सकता। फिर भी वह पद्य निकाल लिया गया।

वे नये विचारों से कभी नहीं घबराते। उनका स्वागत करके उनसे परचित होने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। फ्रायड के मनोविज्ञान के विषय में भी उन्होंने थोड़ा-बहुत पढ़ा है। और अपने सम्बन्ध में उसकी कुछ बातें मिलती हुई पाकर वे उससे प्रभावित भी हैं। एक दिन वे अपने एक मान्य बन्धु से इसी विषय पर उत्साहपूर्वक चर्चा कर रहे थे। वे बन्धु भी फ्रायड के एक प्रेमी पाठक थे। उन्होंने कहा, "एक बार रात को सोते समय मुझे पीने को जो दूध मिला उसमें शक्कर के स्थान पर नमक पड़ा था। इसका कारण मेरी समझ में यह आया कि मेरी गृहिणी मुझे शक्कर नहीं देना चाहती थी। इसलिए बिना जाने ही उन्होंने शक्कर के स्थान पर नमक लेकर दूध में डाल दिया।" इस सूक्ष्म विश्लेषण पर मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, "बधाई है तुम्हें, इस मनोविज्ञान पर !" मेरे बन्धु पर्याप्त हृष्ट-पुष्ट हैं और उन्हें मधुमेह-जैसा कोई रोग भी नहीं है। शक्कर भी उन दिनों ऐसी दुष्प्राप्य न थी।

मेरे इष्ट मित्रों से उनका व्यवहार मेरे सम्बन्ध के अनुरूप रहता है। जिन्हें मैं अपना बड़ा मानता हूँ उनका तो कहना ही क्या ! जिनसे मेरा समानता का

व्यवहार रहता है उन्हें भी वे अपना बड़ा मानते हैं और मेरे छोटों से समानता का व्यवहार करते हैं। मतभेद होने पर भी उनसे कोई असन्तुष्ट नहीं रहता। जैनेन्द्र जी जब यहाँ आते हैं तब मैं चाहता हूँ दोनों की लड़ाई हो और मैं कौतुक देखूँ!

कविता के संशोधन लेकर ही नहीं, अन्य बातों में भी मेरे और सियारामशरण के बीच मतभेद हो जाता है और यदा-कदा विवाद भी। निरन्तर एक साथ रहने से ऐसा होना स्वभाविक है। किन्तु वे मुझसे इतने कभी नहीं झगड़ते जितना मैं स्वयं अपने अग्रज से लड़ बैठता हूँ। व्यवहारतः भरसक वे मेरे मतानुकूल ही चलना चाहते हैं, यद्यपि पूछने पर अपना मत भी नहीं छिपाते। आर्थिक विषयों में वे अपनी रुचि नहीं दिखाते

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्

वाक्य की विद्यावाली चिन्ता उन्होंने अपने लिए चुन ली है, अर्थ वाली हम लोगों पर छोड़ दी है। धन-सन्तान की वृद्धि का आशीर्वाद ही बड़ा आशीर्वाद माना जाता है। उसके अनुसार उक्त बन्धु-जैसे विचारक औरस सन्तान के अभाव के कारण ही धन के प्रति उनकी उदासीनता मान सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत अगणित प्रमाण दिये जा सकते हैं। वास्तव में लोगों की सहज प्रवृत्तियाँ ही उन्हें परिचालित करती हैं।

उन दिनों की रीति के अनुसार छोटी ही अवस्था में सियारामशरण का ब्याह हुआ था। उनके श्वसुर लखपती तो थे ही, उस कन्या के पश्चात् उनको और कोई सन्तान नहीं हुई। वे चाहते तो सहज ही हमारा उपकार कर सकते थे। परन्तु धन तो हमारे हाथ न रहकर हमारे उत्तमर्णों के हाथ चला जाता। अन्त में जिस लड़के को उन्होंने गोद लिया था वह तो अब नहीं है, परन्तु उसके दो पुत्र हैं और हम लोगों से उनका सौमनस्य भी है।

हमारे एक मित्र अपने दुर्दिनों की बात सुनाते थे। आषाढ़ ऊपर था और उनका बैल अचानक मर गया। उनके श्वसुर धनी थे। वे वृद्ध भी थे और एकाकी भी। परन्तु हमारे मित्र की दस बीस रुपये की सहायता भी उन्होंने नहीं की। भले ही कुछ दिन पीछे स्वयं उन्हें बुलाकर अपना सेरों चाँदी-सोना सौंप दिया और अपनी जमीदारी आदि भी उनके पुत्र के नाम कर दी। पाँच-सात वर्ष पूर्व मेरे एक भतीजे चि० सुमित्रानन्दन को भी अपने मामा का एक गांव मिला था, परन्तु हमारा संकट तो प्रभु की कृपा से ही कटा।

सियारामशरण को कई बच्चे हुए परन्तु कोई भी न रहा। मेरी 'नक्षत्र निपात' और 'मेरे आँगन का एक फूल' नाम की रचनाएं उन्हीं के दो बच्चों के सम्बन्ध में लिखी गयी थीं। उनमें से एक बच्चा अब भी दौड़कर मुझे अपनी ओर आता दिखाई पड़ता है। अन्त में उनकी स्त्री भी न रहीं। उस समय उनकी अवस्था इतनी न थी कि वे दुबारा दारपाणिग्रहण न कर सकते। परन्तु वे सहमत न हुए। उनकी बाधा-व्यथा का विचार करके हम लोग भी आग्रही न हो सके। उनकी रचनाएँ ही उनकी सन्तति हैं। और आक्रोश करने से क्या ?

घर में लड़के-बच्चे उन्हें बापू कहते हैं। आगे अपने राष्ट्र पिता के नाम-साम्य की नाममात्र की यह महत्ता भी उनके मन को प्रभावित करती रही हो तो यह असम्भव नहीं।

शैशव में हम सबने पिताजी से रामचरितमानस की नाम महिमा और 'नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगम्' आदि कुछ संस्कृत श्लोक सीखे थे। सियारामशरण ने एक बात और न जाने कहाँ से सीख ली थी। वे कहा करते थे, "हम तो गुफा में बैठकर तपस्या करेंगे।" हमें लगता है, वे वही कर रहे हैं!

शिवरात्रि, २००६



सियारामशरणजी के व्यक्तित्व-सूत्र

[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०]

श्री सियारामशरण जी से कई वर्ष हुए मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ और वह निरन्तर गाढ़ा होता गया। मैं साहित्य-सदन में श्री गुप्त जी से परिचित होने गया था। उसी तीर्थ-दर्शन की सांहित दक्षिणा में मुझे सियारामशरण जी प्राप्त हुए। झबरे बालों से ढका हुआ चौड़ा सिर, ढलवाँ ललाट के नीचे दो चमकते नेत्र, मुस्कराता बदन, साँवला रंग, मँझली अंगलेट, और रोगों से जूझते हुए भी परास्त न होनेवाला शरीर का ठाठ—यही सियारामशरण जी हैं, जो प्रथम दर्शन में टकसाली साहित्यिक की अपेक्षा परिचित आत्मीय से अधिक जान पड़ते हैं।

उनकी बाल-सुलभ सरलता, हँसतामुखी रहन-सहन, बहुमुखी रुचि एवं दूसरों के साथ गहरी आत्मीयता में बँधने की क्षमता ने आरम्भ से ही मेरे मन पर बहुत प्रभाव डाला। वे वार्तालाप में रस लेते हैं, कवि और उपन्यासकार का भावुक हृदय सचाई से मित्रों के सामने उँडेल देते हैं, मतभेद प्रकट करने में भी सौम्य स्थिति से नहीं हटते।

प्राचीन के प्रति वे आस्थावान् हैं, साथ ही नूतन के प्रति उनके हृदय में स्वागत का भाव है।

नर की प्रतिष्ठा के वे भक्त हैं और मानवोचित गुणों की व्याख्या और जीवन में उनकी प्राप्ति को ही वे व्यक्ति और समष्टि का ध्येय मानते हैं।

साहित्य उनके जीवन में रम गया है। पारिवारिक सुख में फैलनेवाले रस-तन्तु उनके लिए साहित्य की कृतियों में भर गये हैं। यही रस-धारा उनको मानों जीवित रखती है।

चिरसाथी के रूप में मिले हुए श्वास-रोग से उन्होंने एक प्रकार का सम-

झौता कर लिया है, ऐसा लगता है कि उसका अवसाद उनकी बलवती प्राण-धारा से पराजित होकर ही उनके अनुभव तक पहुँचता है।

साहित्य-सदन के उस विशाल प्रांगण में जहाँ श्रद्धेय मैथिलीशरण जी के लिए दैवी विचारों के अनेक विमान उतरे हैं, सियारामशरण जी एक वरदान की तरह हैं जो अपनी उपस्थिति-मात्र से उस स्थान के आनन्दी निर्झर को संतत प्रवाहित रखते हैं। राम के चिरबन्धु लक्ष्मण की तरह उनकी सार्थकता है। गुप्त जी-रूपी वटवृक्ष की सन्निधि में पनपने पर भी उनका अपना व्यक्तित्व है जो उनकी बहुविध साहित्यिक कृतियों में प्रकट होता रहा है।

गाँधी-विचार-धारा का उन पर प्रभाव पड़ा है। अथवा कहना चाहिए कि युग-पुरुष की वाणी को भले प्रकार हृदयंगम करके उसे पल्लवित व्याख्या के साथ उन्होंने साहित्य में पिरोया है!

भारतीय लोक-जीवन की जो चिर-प्रतिष्ठा है, उसको अनुप्राणित करनेवाले जो चरित्र के गुण हैं, जिनकी सूची वाल्मीकि ने अपने काव्य के आरम्भ में ही बताई है, एवं इस देश की संस्कृति में जो उदात्त और तेजस्वी-जीवन तत्त्व है, उनमें सियारामशरण जी का मन रमता है। अपने साहित्य की यह पृष्ठभूमि जनपदों में बसनेवाले जन-जीवन से उन्होंने प्राप्त की है।

मेरी बहुत दिनों से यह अभिलाषा रही है कि अँग्रेजी लेखिका जैन-आस्टन ने अँग्रेजी देहातों के जनपदीय जीवन का जैसा अमर चित्र खींचा है, वैसा चित्र भारतीय जन-जीवन का भी किसी हिन्दी-लेखक की कृपा से हमें साहित्य में मिलता। सियारामशरण के 'नारी' उपन्यास को पढ़कर कुछ उसी प्रकार का सन्तोष मुझे प्राप्त हुआ था।

हर्ष की बात है कि सियारामशरण जी की साहित्यिक वेदी अभी निरन्तर प्रज्वलित है। अभी उन्होंने गीता और उपनिषदों के अनुवाद में मन लगाया है। आशा है, उनकी साहित्यिक गंगा के तट नए-नए तीर्थों से यशस्वी बनेंगे।



भैया

[डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी]

ओ दुःसह तेरी दुःसहता, सहज सह्य हमको हो जाय।
तेरे प्रलय घनों की धारा निर्मल कर हमको धो जाय।

अशनि-पात में निर्घोषित हो
विजय-घोष इस जीवन का;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय
हो उत्थान-पतन तन का।
बंधन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का,
तेरी उच्छृङ्खल वन्या में
पागलपन हो इस मन का।

निजता की संकीर्ण क्षुद्रता तेरे सुविपुल में खो जाय;
ओ दुःसह, तेरी दुःसहता सहज सह्य हमको हो जाय।

[पाथेय]

जिसने श्री सियारामशरण को भयंकर रोग से जूझते हुए भी सदा-अम्लान सदा-प्रशान्त सहज रूप में नहीं देखा वह इस कविता का भाव बहुत थोड़ा ही समझ सकेगा। मैंने पहली बार उन्हें दिल्ली की एक साहित्य-सभा में देखा था। उनकी कविताओं का थोड़ा आस्वाद मुझे पहले मिल चुका था। परन्तु उनका व्यक्तित्व स्वयं किसी मनोहर काव्य से कम आकर्षक नहीं था। अत्यन्त सरल स्वभाव और अत्यन्त मर्मभेदिनी तीक्ष्ण दृष्टि—प्रथम दर्शन में ये दो बातें ही दर्शक पर अपना प्रभाव डालती हैं। उनके समूचे व्यक्तित्व में कहीं बनावट या कृत्रिमता नहीं है! सहज-सारल्य की तो वे प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। एक बार दिल्ली की बड़ी सड़क पर हम लोग—मैं, श्री सियारामशरण और श्री चारुशीलाशरण

जा रहे थे। भाई चारुशीलाशरण जी सियारामशरण जी को 'भैया' कहते थे और यह अत्यन्त प्यारा और घरेलू सम्बोधन मैंने उन्हीं से सीख लिया था। जवाब में 'भैया' ने भी मुझे 'भैया' कहना शुरू कर दिया था। लेकिन असली भैया तो वे ही थे। सो, हम तीनों संध्या समय दिल्ली के प्रशस्त राजमार्ग पर जा रहे थे। तीनों गाँव के रहनेवाले गँवार। 'भैया' तो चिरगाँव के रहनेवाले 'चिर-गँवार'! रास्ता भूल गये। किसी से पूछना चाहिए था। एक नवदम्पति अपने नवजात पुत्र को गाड़ी में टेलते, बातें करते जा रहे थे। भैया ने लपक-कर उनसे ही रास्ता पूछा। मैंने कहा—भैया, यह काम अच्छा नहीं हुआ। दम्पति जब इस प्रकार बातें करते जा रहे हों तो उन्हें छेड़ना शहर में अनुचित माना जाता है। आधुनिक शिष्टाचार का ध्यान हमें रखना चाहिए था। मैंने यह बात विनोद में कही थी लेकिन शिष्टता और सरलता की मूर्ति 'भैया' को लगा कि यह बुरा हुआ। पहले तो बोले कि नहीं इसमें हम लोगों से क्या अशिष्टता हुई है ? पर बात उनके मन में जमी रही। अन्त में 'अज्ञेय' जी को आधुनिक शिष्टाचार का विशेषज्ञ समझकर पंच बनाया गया और जब उन्होंने भैया के थोड़ा अनुकूल निर्णय दिया तब जाकर उनके चित्त से कलक दूर हुई। भैया वैसे सरलता के अवतार हैं फिर भी मैं उन्हें 'सरल' नहीं कह सकता। क्योंकि इस सरल-सौम्य व्यक्ति की आँखें इतनी भेदक हैं कि वह कठिन-से-कठिन प्रश्नों के कठोर-से-कठोर आवरण को तोड़कर उनके भीतरी रहस्यों को आसानी से देख लेती हैं। श्रद्धा और समीक्षण शक्ति उनके सहजात गुण हैं। शब्दों के तोड़-मरोड़ और आटोप-संटोप से उन्हें नहीं भुलाया जा सकता, ऊपरी तड़क-भड़क से उन तीक्ष्णदर्शी आँखों को नहीं चौंधियाया जा सकता। पता नहीं ये दोनों गुण किस प्रकार उनमें एकत्र वास कर रहे हैं। अपना सहज वैर भूलकर कैसे वे एक ही आश्रम में स्थित हैं। शायद यह पूर्व-जन्म की किसी तपस्या के फल हों, शायद गुप्त-कुल की अपनी विशेषता हों या फिर शायद कठोर दुःख के भीतर से छनकर आई हुई अद्‌भुत धैर्य-निष्ठा का प्रसाद हों। शायद तीनों का ही यह सम्मिलित परिणाम है। इस व्यक्ति को मैं सरल नहीं कह सकता। 'अहि-मयूर' 'मृगबाघ' को एक साथ नचानेवाला निपुण जादूगर है। वस्तुतः भैया सहज हैं, सरल नहीं। सरलता एकांगी होती है, सहजता सब-कुछ को आत्मसात् करने के बाद सबके निर्गलित रस का मधुर परिपाक है। वह तपस्या से प्राप्त होती है। कबीरदास ने एक बार झल्लाकर कहा था—

सहज सहज सब कोई कहैं, सहज न चीन्हें कोइ।
जिन सहजैं बिषया तजी, सहज कही जै सोइ ॥

मेरे एक असाहित्यिक समझे जानेवाले मित्र ने मुझसे एक बार प्रश्न किया कि वह क्या बात है जो सियारामशरण जी में इतनी मधुरता बनाये रखती है। उनका श्वास-रोग बड़ा कठिन रोग है; शरीर अत्यन्त शीर्ण, फिर भी मन में कहीं तिक्तता नहीं, व्यवहार में कहीं कटुता नहीं, स्वभाव में कहीं कठोरता नहीं। कोई बात ऐसी ज़रूर होनी चाहिए जो उन्हें सदा सरस, सदा उदार बनाए हुए है। कोई एक अदृश्य रसस्रोत, किसी कठोर विश्वास-शिला पर स्थित अमर निर्झर, कुछ तो होना ही चाहिए।

एक बार एक दुर्बल तपस्वी—अतेज, असम्बल—पशुत्व से लड़ने चल पड़ा। पशुता भयंकर थी। तपस्वी निस्सहाय था। फिर क्या—

देर लगती क्या कालधूममुखी ज्वालाएँ
होकर लयंकरी करालाएँ
आ गईं समीप वज्रवेग भरीं
जाने किस क्रूरता के हर्ष मध्य हहरीं!

आगे बढ़, पीछे हट, खेल-खेल,
हिंसा का प्रमत्त भार झेल-झेल

निगल गईं वे उसे हन्त एक छिन में;
अन्त हाय, अन्त एक छिन में!

बिलकुल स्वाभाविक बात है। सियारामशरण के अन्तर्यामी कवि ने ऐसा बहुत देखा है। पर इससे क्या पशुत्व को ही बड़ा मान लिया जाय!

कवि रे, अरे क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर तार सभी ढीले ये?
कैसी किस वेदना व्यथा से है व्यथित तू?
उर में अशान्त उन्मथित तू?
वायु का प्रवाह रुका तेरे धरातल में
ज्योति म्लान-सी है नभस्तल में
देख यह ऐसा अन्त!

कवि को क्षण-भर के लिए इस मर्मन्तुद घटना से अभिभूत होना पड़ा है।

पर यह अस्थायी प्रतिक्रिया है। यह उसका विश्वास नहीं है, यह उसके जीवन
। स्थायी भाव नहीं है—

अन्त ! अरे कौन कहाँ कैसा अन्त ?
श्री गणेश यह है नवीन के सृजन का
अवसर नव्य-भव्य जीवन का—
जिस के निमित्त सब धीर-धनी भिक्षुक हैं,
निखिल तपस्विजन इच्छुक हैं,
जिसकी शुभाशा लिये मन में
कितने प्रवीर परिश्रान्त हैं भ्रमण में,
नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता,
मृत्यु में हिली - मिली अमरता।

और फिर

हार कहाँ उसमें कहाँ है हार ?
अन्त के दिगन्त तक उसका महाप्रसार।
आज के ही आज में उसे न देख।
उसका विजय लेख
काल का तरंगोत्ताल माला में लिखित है
अगम अनन्त में ध्वनित है !
देह वह दुर्बल—उसी का लोभ ?—
उसके बिना ही तो पशुत्व का कराल क्षोभ
ईंधन-विहीन हतप्रभ है,
व्यग्र उसको ही पुनः प्राप्ति हेतु अब है !

[बापू]

यही वह अमर उत्स है ! मनुष्यता की जय-यात्रा के प्रति अखण्ड विश्वास। यह जड़ संभार, ऊपर तड़क-भड़क, वाह्य आवरण, मिट जाते हैं ! ये स्थायी नहीं है। आज जो-कुछ घट रहा है उसका अन्त आज ही नहीं हो जाता। काल का तरंगोत्ताल प्रवाह एक है और अनन्त है। जो मर गया सो समाप्त नहीं हो गया। जो पशुता की कराल ज्वालाओं में जल गया वह भी अपना दान इस महा प्रवाह में दे जाता है। 'आज के ही आज में उसे न देख।'

(३)

'भैया' सौम्य तपस्वी हैं। ज्ञान के प्रति इतनी सजग जिज्ञासा थोड़े ही

साहित्यिकों में होगी। इन दिनों जबकि थोड़े में उतर जाने वालों से साहित्य इतना प्लावित हो गया है कि उसमें नये पौधों के निरन्तर सूखने की ही आशंका बनी रहती है, इस प्रकार का निःस्पृह निर्मान, सत्य-निष्ठ साधक मिलना सौभाग्य की बात है। वे विज्ञापनों के चक्कर में नहीं पड़ते। सरस्वती की उपासना में इस प्रकार एकान्त निष्ठा आजकल दुर्लभ है।

हे ध्रुव-धीर, प्रकाश-ख्याति की
भला तुम्हें क्या चाह ?
दिग्भ्रान्तों को तम में भी तुम
दिखलाते हो राह।

[बापू]



सियारामशरण : मेरी नज़रों में

[श्री विष्णु प्रभाकर]

—दृश्य नम्बर एक—

दिसम्बर १६३७ की बात है। मैं 'जीवन-सुधा' के सम्पादक भाई यशपाल से मिलने उनके कार्यालय में गया था। बातों-बातों में वे बोले—"सुनो, आज सियारामशरणजी आये हुए हैं।"

मैंने अचरज से कहा—"सियारामशरण जी यहाँ हैं।"

"हाँ! आओ, उनसे मिलकर जाना।"

मैं दुविधा में पड़ा—सियारामशरण जितने बड़े कवि, मैं उतना ही छोटा लेखक! न जाने क्यों मेरा जी नहीं किया। मैंने कहा—"मुझे काम है। कल आऊँगा।"

यशपाल बोले—"अरे, ऐसा भी क्या काम है, आओ।"

और मुझे जाना पड़ा। उनके बारे में तब तक मैं बहुत-कुछ पढ़ चुका था। 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट, उदार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरे का भोलापन! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि! और तब मैंने 'मृण्मयी' की, जो तभी प्रकाशित हुई थी, कविताएँ गुनगुनाते हुए उनके कई मनमोहक चित्र अपने मानस-पट पर खींच डाले। देखा—उनके उन्नत ललाट पर रामानन्दी तिलक है, सिर पर पतली-सी चोटी है, वे सफेद खद्दर का धोती-कुरता पहने हैं, उनकी आँखों में...तभी जीने में चढ़ते-चढ़ते यशपाल बोल उठे—देखिये, मामा जी, विष्णु आये हैं।

"आइये, आइये" की ध्वनि हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्र जी सामने बैठे हैं। उनके पास ही उकडूँ से बैठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख

रहे हैं। आहट पाकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हें। सहसा मन में उठा—काल-चक्र के थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है!...

ठीक इसी समय जैनेन्द्र जी ने कहा—"आप सियारामशरण हैं।"

बिजली-सी कौंधी। मैंने सँभल कर देखा—ये सियारामशरण...सियारामशरण यह! नहीं! यह तो उस चित्र की छाया भी नहीं। सिर पर रूखे, उलझे बालों का जंगल। मोटे-मोटे खद्दर का कुरता और घुटनों तक की धोती और शरीर जैसे जीवन-विहीन, किसी निर्विकार भार से दबा हुआ!

—दृश्य नम्बर दो—

जैनेन्द्र जी ने दिल्ली में जो साहित्य-परिषद् बुलाई थी, उसकी घटना है। संचालक महोदय चाहते थे कि सभापति के समर्थकों में सियारामशरण जी का नाम रहे। उनसे प्रार्थना की गई, लेकिन वे तो काँप उठे—हम...! लोगों ने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है। लैक्चर नहीं देना। वे बोले—"हम तो कभी बोले ही नहीं। कैसे कहेंगे!"

और कहते-कहते वे जैसे काँप-से उठे!

मैंने सोचा—इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति! छिः छिः!!...

और उनसे मैंने कहा—"आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति-पद के लिए श्री मशरूवाला जी के नाम का समर्थन करता हूँ। बस!"

उन्होंने यही कहा और मैं देख रहा था—वे एक-एक शब्द पर काँप रहे थे, उनकी मुद्रा-~~साफ़~~-साफ़ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े काम के योग्य हैं।

यह विनम्रता थी या आत्म-निषेध?

फिर उन दो-तीन दिनों में मैं कई बार उनके नज़दीक बैठा। बातें कीं, उन्हें देखा तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका हुआ लगता है, यह निर्बल का झुकना नहीं है, बल्कि यह उस शक्तिशाली का झुकना है जो अपनी शक्ति से बराबर इन्कार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र, एक छोटा-सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण भोले नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता, परन्तु साथ ही वे भी किसी को नहीं ठग सकते। चाहें तब भी नहीं। वे इस विद्या

में कोरे हैं। वे जो कुछ हैं, यह हैं कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी क्रांति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपने में उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरे में उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म-दान से उपजी है। इसीसे उनका अपने में इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरों में विश्वास उनके प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण देखने में जैसी बीसवीं सदी में वैदिक युग के मॉडल जान पड़ते हैं, ऐसे ही उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी बड़ी उग्रता से जाग पड़ती है, पर उग्रता तो उनके स्वभाव में रह ही नहीं सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिक की ओर से दी गई चाय-पार्टी में श्री 'अज्ञेय' ने फिल्म लेने का प्रबन्ध किया तो सियारामशरण जी की धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी—"वात्स्यायन जी! यह क्या करते हैं आप?"

सियारामशरण ने अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाये हैं। प्रियजनों के वियोग की मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमे की शारीरिक यातना ने उन्हें बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इस व्यथा के भार से दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर उठे हैं। निस्संदेह उनके ये अभिशाप जग के लिये वरदान बन गये हैं। "जहाँ पीड़ा है वहाँ पवित्रता है।" यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरण की जीवन-रूपी अनुसन्धानशाला में पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने हैं कि यदि कोई उनकी ठीक बात में भी दोष निकाले तो वे मान लेंगे—ग़लती हो सकती है। क्योंकि वे मानते हैं, वे निर्भ्रान्त नहीं हैं जो निर्भ्रान्त नहीं है वह कहीं भी ग़लती कर सकता है! और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बड़ी सुन्दर है तो क्या कहनेवाला उनकी आँखों से बहनेवाली तरल कृतज्ञता को सह सकेगा? लज्जा से उसकी आँखें स्वयं झुक जायँगी। इतनी निश्छलता···इतना आत्म-दान लेकिन इतना कुछ देकर भी वे स्वयं छूछे रहते हैं।

× × ×

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है, कवि उतना ही ऊपर-ही-ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपने में डूबकर वेदना की कूची से वे चित्र अंकित किये हैं,

जिनमें रोज़ का जीवन है, उपेक्षा है, पीड़ा है, वेदना है, कसक है, पर आरोप कहीं नहीं है, चेतावनी भी नहीं। मात्र संकेत है, जो सीधा हृदय में जा पैठता है, क्योंकि उसके पीछे स्वयं कवि का अनुभव मूर्तिमान हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुँह से मेरी कथा सुनने की आशा मत करो। इसी से वे बोलते कम हैं, सुनना ज्यादा चाहते हैं। जीवन या साहित्य, सब जगह वे विशुद्ध मानवतावादी हैं।

सियारामशरण जी को ज्ञान-पिपासा बड़ी तीव्र है। जन्मजात प्रतिभा न होने पर भी वे इतने बड़े कवि बन गये हैं। वे कोष के सहारे ही अँग्रेज़ी के बड़े-बड़े कवियों की रचनाएँ पढ़ लेते हैं। एक बार मैं उनसे कह बैठा—"आपका रेखा-चित्र लिखने की बात जी में उठी है।"

उन्होंने उत्तर दिया—"बात उठी है तो दबा न दीजिये। किसी के लिए उस का रेखाचित्र एक दर्पण के समान होता है। व्यक्ति अपना चेहरा उसमें देखकर सुधारने का अवसर पाता है।" आत्म-सुधार की इस प्रवृत्ति ने उन्हें सदा ऊपर उठाया है।

गहन गम्भीर विषयों की बहस में, अथवा राजनीति की दलदल में उनका मन नहीं लगता। धारा-सभा का अधिवेशन या नई दिल्ली की सैर उन्हें अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे! वे मानते हैं कि अज्ञानी रहकर तो वे कुछ सीख सकते हैं। इसी कारण लोग उन्हें ग़लत समझते हैं और इसी कारण वे बहुत दिनों से उपेक्षा के पात्र बने रहे।

बात यह है कि मूलतः सियारामशरण जी बौद्धिक नहीं हैं। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्याय की मौलिकता है। विनय और श्रद्धा ने उनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इसी के द्वारा उनकी प्रतिभा को बल मिला है, बुद्धि से नहीं। बुद्धि के सहारे वे आत्म-निषेध की भावना को नहीं पा सकते थे। बुद्धि अहम् को अस्वीकृत नहीं कर सकती और न इकाई को भूलने ही देती है।

परन्तु सियारामशरण जी आत्मनिषेध की इतनी प्रबल भावना को लेकर भी बुद्धि से नफ़रत नहीं करते। उनका 'नारी' उपन्यास पढ़ मैंने उन्हें अनेक बातों के साथ लिखा था—मुझे लगता है कि चिट्ठीवाली बात कुछ उलझन में फँस गई है।

उन्होंने उत्तर दिया—"यह हो सकता है, पर पाठक उलझन में फँसे यह तो तुम चाहोगे ही। उलझन में फँसे बिना वह लेखक को जान ही कैसे सकेगा?"

यानी उलझन को सुलझाने के प्रयत्न में ही पाठक लेखक को पहचानेगा, यह उनका तर्क था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो, बाहर का नहीं है, अंदर का है।

× × ×

तो ऐसे हैं सियारामशरण जी, जिन्हें काल-पुरुष ने पीड़ा के पालने में डालकर खूब झुलाया है। वे शरीर से जर्जरित और आत्मा से व्यथित हैं, पर फिर भी क्रोध से अछूते हैं। वे अखण्ड विद्रोही हैं, पर दाहकता से रिक्त हैं। रुक-रुककर निकलनेवाली साँस के कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे देखने में ज़रूरत से ज्यादा ग्रामीण मालूम होते हैं, पर उनका हृदय सौजन्य और सौहार्द से परिपूर्ण है। उनके नेत्र पीले पड़ गये हैं, पर अनुभूति और अनुराग उनसे बराबर छलकते रहते हैं।

और इसी कारण वे स्वयं एक कुशल कवि, एक कर्मठ कलाकार तथा दूसरों के लिए साकार प्रेरणा बन गये हैं।



बापू[1] सियारामशरण जी

[राय आनन्दकृष्ण]

'और तुम्हें कपालकुण्डला भी पढ़नी चाहिए और......।' सियारामशरण जी ने एक किशोर को दस-बीस पुस्तकों की एक सूची बना दी, सभी चुने हुए उपन्यास वा कहानी-संग्रह।

दूसरे दिन उन्होंने पूर्ण लगन के साथ छान-बीन शुरू कर दी—कौन-सी पुस्तक प्रारम्भ की गई, कौन समाप्त। इतना ही नहीं कौन-सी पुस्तक अच्छी लगी और क्यों? सभी प्रश्न एक से एक विकट थे, पर समाधान और विश्लेषण उतना ही तात्त्विक होता। घर के प्रत्येक बच्चे का अपने बापू—सियारामशरण जी—का यही अनुभव होगा!

यद्यपि शाल-वृक्ष की भाँति अनायास धरती फोड़कर, बिना किंचित् देख-रेख के वे सीधे उठते चले जा रहे हैं पर दूसरी पीढ़ी को वे अपने दाय से वंचित नहीं रखते। नई पीढ़ी को आदर्श में दीक्षित करने के लिए अस्वास्थ्य के कारण वे कोई आश्रम या शाला न स्थापित कर सके हों, पर उनके संसर्ग में आनेवाले प्रत्येक युवक ने यह अवश्य सुना होगा—'...जिस दिन तुम अपने इस महाराष्ट्र के राष्ट्रपति होंगे......।'

जिस व्यक्ति में नई पीढ़ी की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रपति या उसके समान योग्यता वाला देखने और बनाने की साध हो वह पुस्तक पढ़ाकर संतोष नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि यह तो उसकी बेबसी है।

× × ×

सियारामशरण जी के जीवन और पुस्तक का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके सभी अभावों की पूर्ति इन पुस्तकों से होती है। 'जहाँ पुस्तकें रहती हैं वहाँ स्वर्ग

---

१. कवि के सभी वात्सल्य-भाजन उन्हें 'बापू' कहते हैं।

बन जाता है।' और, इस स्वर्ग के अधिराज के रूप में सियारामशरणजी बहुत ही शोभित होते हैं। कोई पुस्तक वृहस्पति है और कोई जयंत।

सियारामशरणजी ने रोग-शय्या पर पड़े-पड़े जो कई भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया वह पुस्तकों से अपनी आत्मीयता के कारण। इसके अतिरिक्त कई शास्त्रों पर वे अधिकार रखते हैं और उससे कहीं अधिक रखना चाहते हैं; परन्तु धर्म-साधन में रोग-जर्जर शरीर कितना बाधक है। फिर भी, हिन्दी, बंगला, गुजराती, अँगरेजी किसी में कोई सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हुई कि सियारामशरणजी के पुस्तकालय की शोभा बढ़ाने लगी। प्रसिद्ध अमरीकी पत्र, 'रीडर्स डाईजेस्ट' में एक नोबेल पुरस्कार प्राप्त पुस्तक का सारांश था जो इस सदी की उक्त विषय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी गई थी। विषय था सृष्टि-क्रम-विकास। बिलकुल नया विषय होने पर भी उक्त पुस्तक मँगा ली गई। यदि शरीर ने गवारा किया होगा, तो पढ़ी गई होगी और संभवतः कवि ने उस विषय पर भी इस प्रकार अधिकार कर लिया होगा।

× × ×

सौंदर्य-प्रेम और गाँधीवाद

कवि का सौंदर्य-प्रेम दार्शनिक सत्य की कसौटी पर कसा गया है और इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हुआ है। इस युग के सभी चेतनशील समाज पर गाँधीवाद का जो उचित प्रभाव पड़ा है, कवि उसमें किसी से पीछे नहीं। चर्खा चला पाने की साध श्वास-जैसे कठिन रोग में पूरी नहीं हो पाती, तब अनुज वा अग्रज के चर्खे की मधुर-मधुर ध्वनि पर ही संतोष करना पड़ता है। फिर भी अपने हाथों अपने वस्त्र धो लेने का प्रयोग वे प्रायः करते हैं और कभी-कभी इसी कारण बीमार पड़ते हैं। वे निश्चय ही जानते हैं कि रोगी सत्याग्रहियों को गाँधीजी कर्म-मार्ग से विरत कर ज्ञान-मार्ग तक ही सीमित रखते थे परन्तु कवि का हृदय अपनी कमी को भी नहीं मानता।

इस प्रकार सियारामशरण जी का कवि-जैसा स्वरूप मोटी खादी के धोती-कुर्ते में और भी अधिक दीप्त हो उठता है। जन्म-भर की साहित्य-साधना और उच्च दार्शनिकतापूर्ण जीवन ने उनके मुख पर एक अलौकिक कांति ला दी है और वे प्रथम दर्शन में गाँधीवादी सन्त ही जान पड़ते हैं।

पर इन सबके भीतर एक बहुत बड़ा कवि बैठा है, जिसने अपने चारों ओर के

और उससे भी अधिक कल्पना-लोक के सौंदर्य का कितना प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया है! बालकों के जीवन में कवि ने विशेष सौंदर्य पाया है और उसकी अभिव्यक्ति अपनी सभी प्रतिनिधि रचनाओं में की है।

सियारामशरण जी वार्तालाप में बहुत ही रोचक हैं। काव्य की भाँति उनके वार्तालाप में भी सुन्दर भावों के साथ-साथ सुन्दर अभिव्यक्ति दीखती है। कुछ दिन पूर्व माननीय संपूर्णानन्द जी चिरगाँव आये थे। गणेशशंकर हृदय-तीर्थ के अधूरे भवन की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिए सियारामशरण जी ने किसी प्रसंग में कहा, "हमें अभी बहुत काम करना बाक़ी है, अपनी स्वतन्त्रता को तो मैं इस अधूरे भवन-जैसा मानता हूँ।" सियारामशरण जी बातचीत में प्राय: अनोखी उपमाओं का प्रयोग करते हैं।

उन दिनों महाकवि 'निराला' शोचनीय मानसिक अवस्था में काशी के कुछ उत्साही हिन्दी-सेवियों की सुश्रूषा में थे। सियारामशरण जी उनसे मिलने गये। 'निराला'जी की वह अवस्था देख उन्हें बड़ी पीड़ा हुई। फिर भी सियारामशरण जी ने उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया। जब 'निराला'जी बहुत अधिक उत्तेजित हो जाते तब सियारामशरण जी कहते, "आप यदि बहुत बड़े पहलवान क्रांतिकारी या राजनीतिक नेता न हो सके तो कोई चिन्ता नहीं आप अपने-आप में ही एक विभूति हैं। 'निराला'जी पर इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ता। उस समय, 'निराला'जी की एक पुस्तक प्रेस में थी। जिसकी भूमिका लिखने के लिए उन्होंने सियारामशरण जी से बहुत आग्रह किया। बहुत बड़े धर्म-संकट में पड़कर सियारामशरण जी को अपनी स्वीकृति देनी पड़ी, और घर लौटकर उन्होंने उक्त भूमिका के लिए जो प्रारूप सोचा था वह सचमुच चमत्कारपूर्ण था। परन्तु, इसी बीच किसी पागल ने राष्ट्र-पिता की हत्या कर डाली और सबके मन पर एक बड़ा गहरा काला पर्दा पड़ गया। इसी स्थिति में भूमिका लिखने की बात रह गई।

कितनी चोट पहुँची उस समय इस कवि के हृदय को! जो राष्ट्र-पिता को अपना युग-पुरुष, आराध्य देव और बापू मानता! इसका इतना बुरा असर पड़ा कि उन पर श्वास का भारी आक्रमण हुआ और काशी आकर उन्होंने थोड़ा-बहुत जो-कुछ स्वास्थ्य-लाभ किया था वह दो दिनों के आँसुओं के साथ निकल गया।

× × ×

रोग-जर्जर शरीर और साधना

रोग से लड़ते-जूझते उन्हें इतना कुछ करते देख सचमुच आश्चर्य होता है।

शरीर में स्वस्थ मन रहता है, इसकी सबसे बड़ी चुनौती सियारामशरणजी हैं। उन्होंने सारी उम्र खाट पर बिताई, फिर भी प्रत्येक दिशा में अनुपम प्रगति की है। चारों ओर न जाने कितनी दवाइयों से घिरे हुए, जिनके विष को झेलना उनके जैसे महाप्राण व्यक्ति के लिए ही संभव है—इसी प्रकार सिगरेट के नाम पर एस्प्रोमोनियम के दर्जनों पैकेट खतम करते उन्हें देखा जा सकता है। मोटी गादी के चारों ओर इन्हीं सबका साम्राज्य है। किसी-किसी औषधि के बाद, और कभी-कभी भोजन के बाद पान की आवश्यकता पड़ती है। पुकारने के कष्ट से बचने के लिए कभी-कभी घण्टी भी मिलेगी, पानदान पास ही धरा है! हाँ, उससे लाभ उठाने के लिए सभी को छूट है। बगल में कुछ पुस्तकें रखी हैं, जो दद्दा (राष्ट्रकवि) के पासवाली बैठक और इस गादी के बीच सीमा का काम करती हैं। बेंत की एक रकाबी में एकाध कलम-पेंसिल साहित्य-सदन का नाम सार्थक करती है। सियारामशरण जी—जिन्हें घर के हम सब बच्चे बापू कहते हैं—की जेब में जो एक घड़ी है वह समय पर दवा खाने के लिए अथवा रेडियो पर समाचार सुनने के लिए है। किसी ने श्वास-रोग के लिए चाय की सिफारिश की। तब से चाय का क्रम चल गया। लाभ तो हुआ नहीं, दोनों समय चाय बनने लगी।

अखबारों का ढेर आ पहुँचा। प्रत्येक अखबार की छान-बीन की गई। प्रायः दद्दा महत्त्व की खबरों को पढ़कर सुनाने में आनन्द पाते हैं। कभी-कभी उन खबरों को लेकर बहस भी हो जाती है, कभी-कभी एक पक्ष की हार। क्योंकि कवि-युगल की धारणाओं और विचारों में पर्याप्त मतभेद की गुञ्जाइश है, बहुत-सी बातों में अपना-अपना दृष्टिकोण है।

सहसा, बापू अँगरेज़ी अखबार में कोई नई खबर देख बोल उठते हैं जिसे हिन्दी के सम्पादकों ने अनावश्यक समझा हो। परन्तु यह सारा क्रम डाक आते-आते अवश्य समाप्त हो जाता है, बापू अपने पत्रों का उत्तर अपने व्यक्तित्व-जैसे सुन्दर अक्षरों में देने लग जाते हैं।

समय भार होने लगता है, अथवा रात को नींद नहीं आती तब ताश के पत्तों* का सहारा लेना पड़ता है। उसमें भी किसी साथी की आवश्यकता नहीं; पेशेन्स का यांत्रिक खेल मन को फँसाये रखने में समर्थ है। बगल में दद्दा अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति और सूझ के बल पर मिनटों में बाजी मार लेते हैं, उनके बगल

---

* बापू जी के महा-निर्वाण के दुःखद प्रसंग पर उन्होंने इस दुर्भाग्य से छुटकारा पा पा लिया है।

में उनके भी अग्रज अपने काँपते हाथों से—पर सियारामशरण जी को पत्रों के जुटाने में ही काफी समय और श्रम लगता है। एकाध बाजी में ही वे थककर चूर हो लेट जाते हैं। घर का कोई बच्चा कभी बदन दबाने लगता है, कभी दुखते सिर को।

दुपहरिया में रात की नींद पूरी करना आवश्यक होता है। इसलिए एक मात्र वह ऐसा समय है जो सुखपूर्वक कट सके। अथवा कभी कल्पनालोक में विचरण करते समय इस अनुभवगम्य लोक की व्यथाएँ भुलाई जा सकें।

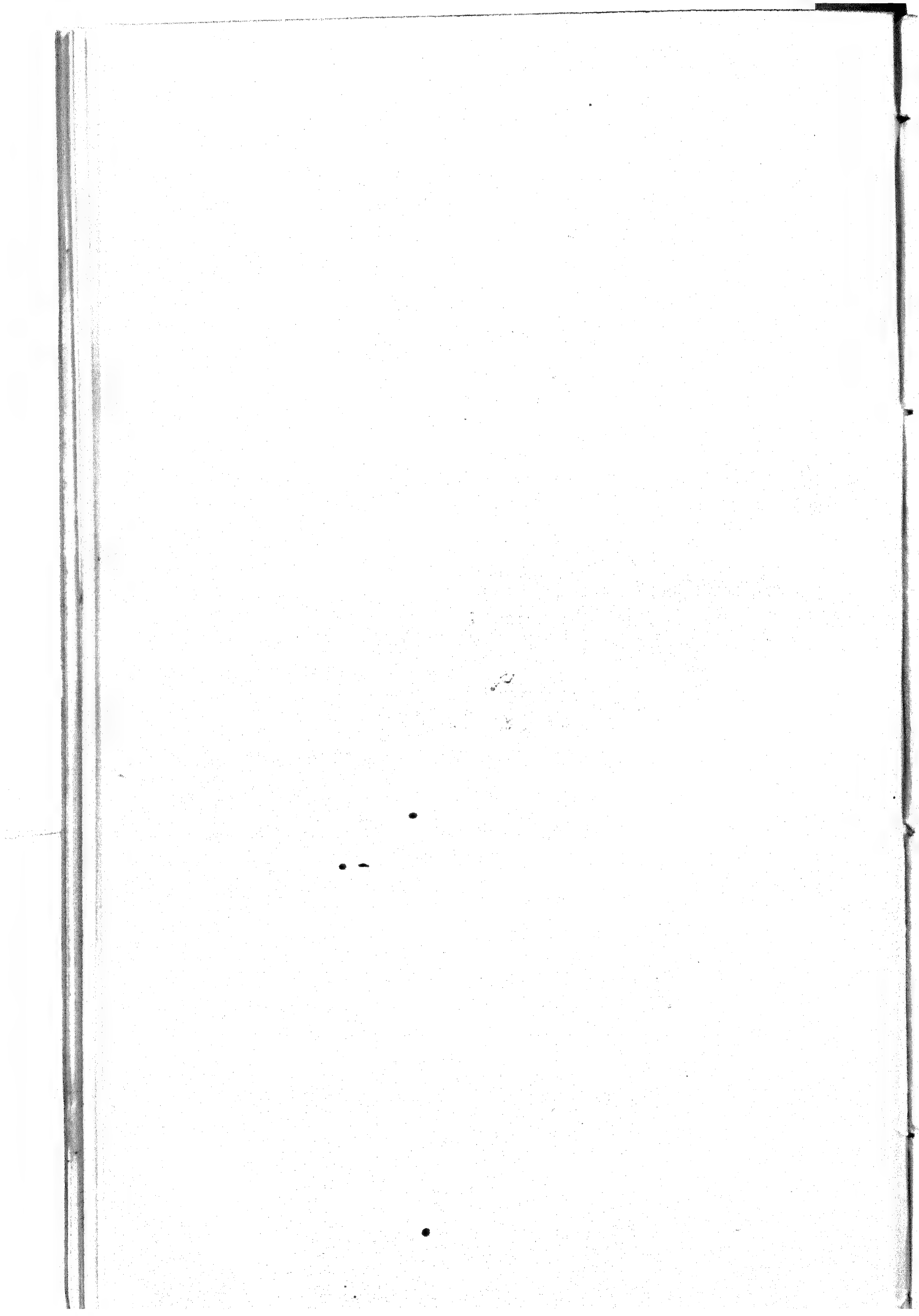
आज, इस सन्त की ओर असंख्य हाथ जुड़े हुए हैं, मानो किसी देवता पर राष्ट्र ने असंख्य-असंख्य कुड्मल न्यौछावर कर दिये हैं, उन्हीं के बीच इस वात्सल्य-भाजन का भी शत-शत प्रणाम है—

अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।



भाग २

आलोचना



सियारामशरण के ग्रन्थ

[श्री विद्याभूषण अग्रवाल, एम० ए०, साहित्य-रत्न]

गुप्त-बन्धुओं ने हिन्दी-संसार की जो सेवा की है वह अनेक दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखती है। मैथिलीशरण की ही भाँति सियारामशरण जी की प्रतिभा भी बहुमुखी और उर्वर रही है। अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने हिंदी-साहित्य की वृद्धि की है।

सियारामशरण ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं; परन्तु ऐसे हिंदी-पाठक अधिक नहीं होंगे, जिन्होंने उनके प्रायः सभी ग्रंथों का अध्ययन किया हो। उनके ग्रंथ हिंदी-साहित्य की स्थायी निधि हैं, किन्तु कुछ पाठक उनमें सरसता तथा प्रासादिकता का अभाव पाते हैं। कदाचित् यही कारण है कि उनके ग्रंथों का पठन-पाठन क्षेत्र थोड़ा सीमित हो जाता है। हल्की मर्मस्पर्शिता के सहारे 'पापुलर' होने का लोभ सियाराम जी पूरी तरह संवरण कर चुके हैं। उनके समस्त ग्रन्थों का सुचारु रूप से अध्ययन करने के लिए पर्याप्त अवकाश ही नहीं, जीवन की गहराइयों में जाने का धैर्य और अभ्यास भी अपेक्षित हैं। अधुनातम हिन्दी-साहित्य की थोथी भावुकता और सरसता पर पले हुए पाठक को आपकी रचनाओं का पाठ करने में कुछ न कुछ कष्ट प्रतीत होता है।

सियारामशरण जी ने विशेष ख्याति अपने उपन्यास 'नारी' के कारण पायी। फिर भी, कविता के क्षेत्र में जो कार्य आपने किया वह अमर और स्थायी है। यहाँ हम आपके प्रायः सभी ग्रन्थों की संक्षिप्त झाँकी पाठकों को देना चाहते हैं और हम क्रमशः उनके काव्य-ग्रन्थ, उपन्यास, कहानी, निबंध तथा नाटकादि का परिचय देंगे।

काव्य-ग्रन्थ

मौर्य-विजय (सं० १९७१)—सियारामशरण जी ने अपनी प्रारम्भिक प्रेरणा

५८
१९१४

भारत के प्राचीन गौरव से ग्रहण की। राष्ट्र के निर्माण-कार्य में अतीत का गौरव-गान हमारे स्वतन्त्रता-युद्ध की परंपरा रही है। 'मौर्य-विजय' में कवि ने सिल्यूकस के भारत-आक्रमण की कथा को लिया है। कवि का ध्येय पाठक के हृदय में स्वदेशानुराग का उदय कर उसे अतीत गौरव से परिचित कराना ही है। वह समझता है कि आत्म-विस्मृति ही देश की अवनति का मूल कारण है। इस काव्य की रचना तीन सर्गों में समाप्त हुई है।

यह द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य का सुन्दर उदाहरण है। कथा छप्पय छंदों में कही गयी है जिससे प्रवाह में गति कुछ मन्द अवश्य हो उठती है। ग्रन्थ रामवन्दना से प्रारम्भ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऐश्वर्यपूर्ण राज्य के वर्णन के पश्चात् कवि ने सिल्यूकस के आक्रमण को छंद-बद्ध किया है। चाणक्य मंत्री के आप्त वचन सुन्दर बन पड़े हैं। ग्रीक और हिन्दू-सेनाओं के भयंकर युद्ध का सुन्दर ओजस्वी वर्णन किया गया है। निम्नलिखित गीत में कवि ने तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण को ध्वनित किया है :

जय जय भारतवासी कृती
जय जय जय भारत मही !

अन्त में सिल्यूकस की एथेना से चन्द्रगुप्त के विवाह का वर्णन है। 'मौर्य-विजय' राष्ट्रीय गौरव की भावना से ओतप्रोत है। सुन्दर कथात्मक शैली में लिखे गये काव्य की दृष्टि से यह कवि की एक अमर कृति है।

अनाथ (सं० १९७४)—कवि का हृदय इस देश की घोर दरिद्रता और सामाजिक कुरीतियों से सदा प्रभावित रहा है। उसी प्रभाव का परिणाम है कि स्थान-स्थान पर सियारामशरण जी ने ग्रामीण-जीवन तथा उसके नारकीय जीवन के इतने मर्मस्पर्शी चित्र हिन्दी-साहित्य को दिये हैं। 'अनाथ' में कवि के सुकोमल हृदय का मार्मिक चित्र प्राप्त होता है। इसमें ग्रामीण-जीवन का एक करुण चित्र है, जिसमें ज़मींदारी-प्रथा, बेगारी तथा शोषण और पुलिस के हृदयहीन अत्याचारों की कहानी है। मोहन और उसकी स्त्री यमुना साधारण ग्रामीण हैं। उनका पुत्र मुरलीधर मृत्यु-शैय्या पर निःसहाय अवस्था में पड़ा है। इस पृष्ठभूमि पर ज़मींदार के अत्याचार और पुलिस के हृदयहीन व्यापार मुखर हो उठते हैं। इस काव्य में उस समय की राजनैतिक स्थिति पर तीखा व्यंग्य है।

दूर्वादल (सं० १९७२—८१ की रचनाओं का संकलन)—यह काव्य-ग्रंथ कवि के साहित्यिक विकास और प्रगति का परिचायक है। इसमें विभिन्न-विषयक

रचनाओं का संग्रह है, जो कवि ने समय-समय पर अपने तथा देश के जीवन से प्रभावित होकर लिखी थीं। कवि का आत्म-पीड़न तथा अपने जीवन को सोद्देश्य और महत्त्वपूर्ण बनाने की सद्भिलाषा अनेक रचनाओं में व्यक्त हुई है। सियारामशरण की उदात्त वृत्तियों से अभिभूत व्यक्तित्व भले प्रकार से इन रचनाओं में निखर आया है। जन्मभूमि की प्रशस्ति में भी कई कविताएँ लिखी गई हैं। इस संकलन की इन तीन रचनाओं ने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है : तुलसीदास; घट; वर्ष-प्रयाण।

'दूर्वादल' की कविताओं से स्पष्ट है कि इन वर्षों में कवि की शैली अधिक परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी है। देश के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नव-जागरण (Renaissance) का सबल स्वर इनमें विद्यमान है; साथ ही युगीन छायावादी और रहस्यवादी शैली की कविता का भी गुप्तजी पर प्रभाव पड़ रहा था। 'घट', 'वीणा', 'पथ' तथा 'कब' शीर्षक कविताएँ इसका उदाहरण हैं। सुकोमल भावों की सूक्ष्म व्यंजना करनेवाले लघु-गीतों की जो शैली उस दशक में चल पड़ी थी उसका भी बहुत कुछ प्रभाव इस संकलन की कविताओं में परिलक्षित है। एक उदाहरण लीजिए :

> **किस दिन माया जाल तोड़ के**
> **गेह निज छोड़ के,**
> **बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?**
> **—विश्व महासिन्धु सन्तर को ?**
>
> **हे सर्वत्रगामी चर**
> **विवर-विचर कर**
> **ढूँढ़ते किसे हो तुम,—**
> **कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?** [पथ]

कई कविताओं में 'सम्बोधन' शैली (Ode) का अनुकरण किया गया है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कवि इस समय अपने चारों ओर होनेवाली काव्य-प्रगति से पूर्ण रूपेण परिचित था और उसे सहानुभूति के साथ ग्रहण कर अपनी प्रतिमा के सहारे हिन्दी-कविता को एक नवीन दिशा और नये विषय प्रदान करने के प्रयत्न में संलग्न था। अन्य रचनाओं में कवि का आत्म-निवेदन, राष्ट्रीय-प्रेम तथा ईश्वर-भक्ति की अभिव्यक्ति है। सियारामशरण के काव्य को समझने के लिए 'दूर्वादल' एक महत्त्वपूर्ण संकलन माना जायगा।

विषाद (सं० १९८२)—इस पुस्तक में पंद्रह विषादमयी रचनाएँ संकलित हैं, जिनकी प्रेरणा कदाचित् धर्मपत्नी की मृत्यु से कवि को प्राप्त हुई है।

इन कविताओं की घनीभूत पीड़ा बरबस मर्म को स्पर्श करती है! यों तो कवि अपनी पीड़ा को नियंत्रित कर उसे सक्रिय शक्ति के रूप में देखने की चेष्टा कर रहा है, किन्तु सफलता अभी दूर है।यथा :

हृदय का ऐसा दाहक दाह
मर्म का इतना गहरा घाव
साधनों का वृहदाभाव
वेदना का यह चिर चीत्कार।

कवि की व्यथा बड़ी गहरी परन्तु संयत है।

वह नहीं जानता कहाँ से और क्यों मृत पत्नी की स्मृति पुरवाई हवा की भाँति आती है और उसे झकझोर जाती है :

वह भूला भटका मनस्ताप
कर उठा अचानक है विलाप!

कवि का रोम-रोम चीत्कार कर उठता है और धैर्य का बाँध टूट जाता है :

हाय! देकर वह दिव्य प्रकाश
किया है तूने तमोविकास,
मेघ! मत तू ये आँसू डाल
हृदय से ही निष्ठुर है काल!

कवि अपनी वैयक्तिक वेदना का साधारणीकरण करना चाहता है। उसके लिए वह प्राण-पण से प्रयत्नशील है। अपनी वेदना को स्वीकृति भी वह नहीं करना चाहता; किन्तु दुःख इतना तीव्र है कि उस स्नेह की याद बरबस आ जाती है :

तन में, मन में, रोम-रोम में, नख से शिख पर्यन्त
लिखकर तू रख गई स्नेहमयि! अपना स्नेह अनन्त!

× × ×

बार-बार मन में लाता है तेरा स्मरण विषाद
क्षण-भर को ही वहाँ तुझे क्या आती है कुछ याद?

कभी कल्पना पहुँचाती है क्या तुझ तक यह बात
मैं इस समय कर रहा हूँगा नीरव अश्रु-निपात ?

कवि के जीवन की करुण झाँकी देनेवाला यह काव्य-ग्रन्थ काव्य-प्रेमियों की रुचिकर-वस्तु है। गुप्त जी के जीवन-मोह का एकमात्र स्रोत जब चुक गया तो उनकी आत्म-पीड़ा क्रन्दन कर उठी। 'विषाद' करुण रस की अमर रचना है।

आर्द्रा (सं० १६८४)—इस संग्रह में कुल तेरह कविताएँ संग्रहीत हैं कथात्मक शैली में गार्हस्थिक और सामाजिक जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र हमें इसमें मिलते हैं। 'हूक' कविता में बेटी रमा की हृद्गति के कारण होनेवाली मृत्यु का वर्णन है और मानव की अतृप्त आकांक्षा का भी साथ ही मार्मिक चित्रण हुआ है। समाज की अनेक कुरीतियों पर कवि ने दृष्टि-निक्षेप किया है और सरल प्रसादमयी भाषा में कथाओं के सहारे देश की दरिद्रता, अशिक्षा, नृशंसता आदि पर सुन्दर कटूक्तियाँ की हैं। इन रचनाओं में कवि के भग्न-हृदय की हूक है और समाज के अन्याय और क्रूरता के प्रति उसका प्रबल आह्वान-स्वर है। सियारामशरण जी अपने काव्य में सामाजिक पक्ष को सदा सामने रखते हैं। इस संग्रह की प्रत्येक कविता में करुणासिक्त कथा है। जो बरबस पाठक के हृदय को आन्दोलित कर उठती है। 'खादी की चादर' में चम्पा का कारुणिक चित्र है; 'नृशंस' शीर्षक कविता में दहेज़ प्रथा की पृष्ठभूमि में समाज को 'घातक समाज-कंस' की संज्ञा दी गयी है; 'एक फूल की चाह' कविता तो अस्पृश्य जाति के प्रति किये गये सवर्णों के अत्याचार की हृदयस्पर्शी कहानी है। निम्न पंक्तियाँ देखिए :

हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद में बेटी
तुमको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मैं हा !

'अग्नि-परीक्षा' में हिन्दू-मुसलिम दंगों की भूमिका पर 'सुभद्रा' नाम की हिन्दू-नारी के सतीत्व के ओजमय दर्शन होते हैं, जिसने सीता की भाँति 'सलिल-परीक्षा' देकर अपने प्राण त्याग दिये।

इसी प्रकार की कहानियों द्वारा कवि ने हिन्दू-समाज तथा भारतीय राष्ट्र के करुणाद्र चित्र 'आर्द्रा' में प्रस्तुत किये हैं। कथात्मक पद्य, प्रवाहमयी शैली, चित्रमय भाषा और प्रसाद गुण के लिए यह संग्रह हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। कहीं-कहीं गद्यात्मकता का अधिक समावेश है, अतएव पाठक के लिए रस क्षीण हो जाता है। काव्य-सौष्ठव इन कविताओं में किंचित् न्यून है! 'प्रयाणोन्मुखी' कविता इसका अपवाद है, और वह शायद इस कारण कि इसकी प्रेरणा कवि के वैयक्तिक आत्म-पीड़न से संबंधित है।

आत्मोत्सर्ग (सं० १९८८)—अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान के अवसर पर यह राष्ट्रीय कथा-काव्य लिखा गया था। सियारामशरण जी के निकट विद्यार्थीजी का बहुत मूल्य था, साथ ही यह घटना भी राष्ट्र की भावनाओं को झकझोर देनेवाली थी। कवि की लेखनी कानपुर के साम्प्रदायिक दंगे के कारण क्षत-विक्षत मानवता के दर्शनकर चीत्कार कर उठी। विद्यार्थीजी के आत्म-बलिदान की यह करुण कथा इस खण्ड-काव्य में अंकित है। प्रारम्भ में पूज्य बापू के दो शब्द हैं और मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धांजलि है। कानपुर के विषाक्त वातावरण का चित्रांकन सुन्दर बन पड़ा है। विद्यार्थीजी का साहस और देश के लिए निर्भीकता से किये हुए बलिदान की कथा पढ़कर आज भी रोमांच हो जाता है। वास्तव में यह एक बड़ा सरल तथा सजीव काव्य है। विद्यार्थीजी उत्तेजित भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

हाज़िर मेरा खून, तुम्हारा
फूले-फले अगर इस्लाम !

× × ×

अब मत भोगो, अपने हाथों
अरे बहुत तुमने भोगा
हिन्दू-मुसलमान दोनों का
यह संयुक्त राष्ट्र होगा !

× × ×

कवि विद्यार्थी जी की नृशंस हत्या पर उक्ति करता है :

अरे दीन के दीवानो, हा !
यह तुमने क्या कर डाला ?

अपने हाथ खून से रँगकर
किया स्वयं निज मुँह काला ?

इस काव्य के अन्तिम पृष्ठों में बड़ी व्यथा है जो मन को कचोट डालती है। राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में ऐसे ज्वलंत पृष्ठ कम ही हैं। कवि केवल यह कह कर आत्म-सन्तोष पाने की चेष्टा करता है :

अपने तनु की खाद बनाकर
अमर बीज तुमने बोया।
नहीं बुझेगी चिता तुम्हारी
उसकी यह ज्वलन्त ज्वाला
निज प्रकाश से मातृभूमि का
मुख उसने है धो डाला।

पाथेय (सं० १९९०)—तीन-चार वर्षों के बीच लिखी गई विचारात्मक कविताओं का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। कवि की मनोदशा को एक नये रूप में प्रदर्शित करनेवाली ये कविताएँ भावुक पाठकों को अधिक रुचिकर नहीं होंगी—ऐसी हमारी आशंका है। परन्तु कवि के मानसिक-विकास की प्रगति अध्ययन करनेवाले साहित्यिक पाठक इस संग्रह में कवि का अधिक सक्षम एवं जाग्रत रूप देखेंगे, जो पत्नी की मृत्यु के कारण कुछ दब-सा गया था। वही कवि अब एक नवाशा लेकर जीवन-मार्ग की ओर चल पड़ा है और मानवीय तत्त्वों के सहारे नव-निर्माण का शिलान्यास करने की चेष्टा कर रहा है। समस्त पुस्तक में यात्रा के प्रतीक बिखरे पड़े हैं, 'नूतन यात्री' ने इस 'पाथेय' का सम्बल ग्रहण किया है। आज क्षणिक आनन्द भी कवि को रस प्रदान करता है :

आज चराचर के प्राणों में
जीवन है छलका-छलका

× ×

चल नित नया प्रकाश लायगा
सुप्रभात आल्हाद-स्वरूप !

कवि में, सहसा जीवन के भौतिक पक्ष के प्रति हर्षातिरेक उद्गीत हो चुका है और वह इस स्फूर्ति और उन्मेष का गीत गा उठता है :

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नवजीवन आया ।
आया हाँ आया आया ।
तरल-तरंगों में उठ इसने
तन को मन को लहराया,
लहराया हाँ लहराया ।

इस संग्रह की एक रचना काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी है जिसका शीर्षक है शंखनाद ।

मृतुञ्जय ! इस घट में अपना
काल-कूट भी दे तू आज !

छोटी-छोटी नगण्य घटनाओं से असीम और विराट की झाँकी इस संग्रह की रचनाओं की एक ख़ास विशेषता है । कहीं-कहीं भावनाएँ अस्वाभाविक भी हो उठती हैं । कवि ने विचार के सहारे जीवन का मूल्यांकन करने की चेष्टा (Conscious effect) की है । इसलिए कविताओं में एक प्रकार की सात्विकता तो मिलती है; पर काव्यानन्द क्षीण होता चलता है । हर्ष और पुलैक के क्षण भी निरे बुद्धिवाद के बोझ से दबे जा रहे हैं और ऐसे स्थल इन रचनाओं में बहुत कम मिलेंगे जहाँ कवि ने पाठक को रस-निमग्न कर दिया हो !

मृण्मयी (सं० १९९३)—सियारामशरण के लगभग सभी काव्य-ग्रंथों में एक प्रकार की शान्तिदायिनी सात्विकता मिलती है । स्थान-स्थान पर वे अपनी सरल किन्तु प्रांजल भाषा में जीवन की मौलिक भावनाओं के गीत गाते हैं । प्रस्तुत संग्रह उनकी इन वृत्तियों का सुन्दर परिचायक है । इसमें कुल ग्यारह कविताएँ हैं और एक-दो को छोड़कर सभी काफ़ी लम्बी हैं । कथात्मकता इनका मुख्य लक्षण है । लघु-कथा के सहारे अतीव सरल प्रवाहमान शैली में जीवन तथा समाज की गुरुतम समस्याओं को लिया गया है और एक सुनिश्चित दार्शनिक विचार-धारा की स्पष्ट व्यंजना की गयी है । 'मृण्मयी' के गीत—जैसा कि इस शीर्षक से स्पष्ट है—वास्तव में धरती के गीत हैं । बुंदेलखण्ड के उन्मुक्त जीवन का प्रभाव कवि पर सदा रहा है और उसी धरती का हृदय-स्पन्दन इन रचनाओं में उभर आया है । प्रारम्भिक समर्पण में (जो 'सावन तीज' के प्रति हुआ है) कवि की इस उक्ति को देखिये :

दूर-दूर तक शस्यावलि में
वसुधा का पुलकोद्भव है;

हे मंगलमयि, तेरे कर में
पुण्य पुरातन नव-नव है।
हे सुवत्सले, तेरे उर में
वत्सलता है क्षेमकरी;
मेरी शुष्क मृण्मयी भी यह
मानस में है हरी-हरी।

धरित्री के शस्य-श्यामल जीवन की यही सजग आल्हादकारी प्रेरणा इस पुस्तक का मूल है; और इस दृष्टि से हिन्दी की यह अनूठी चीज़ है। 'रज-कण' 'लाभालाभ' 'अमृत' 'मंजुघोष' शीर्षक कविताएँ इसी मूल विचार की व्याख्या करती हैं। 'छल' कविता में बाल-क्रीड़ा की पृष्ठ भूमिपर सागर और मानव के भ्रम अथवा आत्म-वंचना के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। शब्द-चित्रों की छटा इन रचनाओं में अनेक स्थान पर मिलती है। सागर-तट पर लहरों का यह वर्णन देखिए :

अद्‌भुत अपूर्व किसी मेला में,
जीवन की खेला में,
एक दूसरे से टकराती हैं;
आपस में फिर भी घुली-मिली
गिरती हुई भी एक-सी ही खिलीं
एक-लय एक गान गाती हैं
आती हैं रिलती हुई तट पर।
तट यह दूर तक निद्रालस फैला पड़ा
सिकता के मंजुल महीन शुभ्र पट पर;
ऊर्मियाँ ये छप-छप करके छपाका बड़ा
मानों इसे क्रीड़ा से खिझाती हैं,
टीका फेन-चंदन का लगा-लगा जाती हैं।

[छल]

'ग्वालिनें' में कवि का वैष्णव-हृदयनाद सौंदर्य के साथ मुखरित हुआ है। 'सम्मिलित' शीर्षक कविता में माता वसुधा और प्रकृति का वरद रूप व्यक्त हुआ है। 'अमृत' में कवि ने पौराणिक अमृत-मंथन की कथा वर्णित करते हुए हलाहल-अमृत के समान तत्त्व की विवेचना की है :

छले गये हा ! छले गये हम
पा न सके निज भाग।
सुर-दल ही है जयी यहाँ भी
मिला उसी को तथ्य;
जिसे हलाहल समझा हमने
अमृत वही था सत्य !

प्रकृति को कवि वरदायिनी और क्षमामयी रूप में ग्रहण करता है और मनुष्य की क्रूरता के अनेक चित्र प्रस्तुत करता जाता है:

पशु से बच भी जायँ, बचा है कौन मनुज से ?
आह ! मनुज के लिए मनुज है क्रूर दनुज से !

मिट्टी और स्वर्ण का यह भेद मनुष्य का अपना भ्रम है, आत्म-वंचना है। धरती से प्रेरणा लेकर यह कवि मनुष्य-मात्र में 'समदृष्टि' और समन्वयात्मक बुद्धि का संचार करना चाहता है। महान् उद्देश्य को लेकर की गयी 'मृण्मयी' की ये रचनाएँ परिणामतः बहुत गद्यात्मक हो गयी हैं। छन्दों के प्रयोग में गुप्त जी विशेष पटु हैं। कविताओं में कथा-भाग सुन्दर है और भाषा बहुत निखरी हुई है।

बापू (सं० १९९४)—गुप्त-बन्धुओं पर पूज्य बापू के जीवन का बहुत प्रभाव पड़ा था। उनके वैष्णव-हृदय पर गाँधीवाद के सत्य-अहिंसा सिद्धान्तों की अमिट छाप लग गयी। युग-पुरुष गाँधी के प्रति अपनी श्रद्धांजलियों के पुष्प सियाराम जी ने 'बापू' में चयन कर रखे हैं। सं० १९९४ के आसपास लिखी गई ये रचनाएँ ही कवि को अमरता प्रदान कर सकती थीं। कवि के हृदय का विषय-वस्तु से स्वाभाविक अनुराग है, वह आधुनिक काल के मानव की विडम्बना को पूरी तरह चीन्हता है; आज के जर्जरित हिंसात्मक समाज की आधार-शिला हिल चुकी है और मानव-मन का आत्म-विश्वास खोता चला जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में गाँधी-अवतार विश्व और मानवता के लिए दैवी वरदान है। गुप्तजी की लेखनी इस विषय की ओर उसी सहज रूप से अग्रसर हुई जिस प्रकार सूर अथवा तुलसी अपने इष्टदेव को यश-गाथा गाने को प्रस्तुत थे। 'बापू' एक सुन्दर ग्रन्थ है जिसमें कवि ने अपनी गहन दृष्टि का काव्यमय परिचय दिया है। महात्मा गाँधी के धर्म-प्राण व्यक्तित्व को भूमंडल तथा मानव-इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर देखना कोई सरल कार्य नहीं। गुप्तजी की दृष्टि सार्व-

भौम है और उन्होंने पूरी तरह उसको निभाया है। गाँधी को महात्मा मान-कर उनका प्रशस्ति-गान करना आसान है। किन्तु मानव-विकास के क्रम में इस व्यक्ति का मूल्यांकन करने का जो प्रयास कवि ने किया है वह प्रशंस-नीय है।

पुस्तक के प्रारम्भ में महादेव देसाई की भूमिका है, जिसमें उन्होंने गाँधी जी को धर्म-तीर्थ रूप में स्वीकार किया है। महादेव भाई का विचार है कि मानवता को सबसे बड़ी गाँधीजी की देन है—'अभय-दान'। त्रस्त मानव को अभय-दान देकर गाँधी जी ने शोषितों का सबसे बड़ा उपकार किया है। निम्न पंक्तियाँ इसे व्यक्त करती हैं :

> **जिसने किया है महातंक छिन्न**
> **विश्व के प्रपीड़ितों के अन्तर से ;**
> **बोध का प्रदीप दीप्त करके**
> **जिसने दिखाया—दीन दुर्बल नहीं है हीन,**
> **वह है निरस्त्र भी महत्त्वासीन**
> **अपने अजेय आत्मबल से ;**
> **अन्य के अपार शक्ति-छल से**
> **मुक्त सर्वथैव वह एक मात्र स्वेच्छाधीन !**

इस संग्रह की प्रथम कविता में श्रद्धालु जनता की गाँधी-दर्शन के लिए धैर्य-पूर्ण प्रतीक्षा का बहुत सुन्दर चित्रांकन है। मन और आत्मा तक कवि की पहुँच है और अन्तर्मन की भावनाओं को सरल भाषा में व्यक्त करने की उसकी क्षमता बड़ी प्रखर है। गाँधी-दर्शन की कितनी सूक्ष्म अभिव्यंजना इस पद में है :

> **आई अहा ! मूर्ति वह हँसती;—**
> **जैसे एक पुण्य-रश्मि स्वर्ग से उतर के**
> **अन्ध तमःपुञ्ज छिन्न करके**
> **दीख पड़ी अन्तस् के अन्तस् में धँसती !**
> **आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र**
> **दृष्टि हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,**
> **भीतर की ज्योति से छलकता !**

कवि ने गाँधी को सर्वत्र इसी रूप में देखा है। मानव की सात्विक वृत्तियों को जाग्रत करने में उनका सबसे बड़ा योग रहा है ! वे श्रद्धा की मूर्ति थे; उन्होंने

युग को कर्म का मंत्र दिया; भौतिक जगत् के अन्धकार में वे आध्यात्मिक प्रकाश-पुञ्ज थे; 'सत्य-अहिंसा' को उन्होंने साधन ही नहीं साध्य-रूप में ग्रहण करके मानव को भावी-निर्माण की नई दिशा प्रदान की। ज्ञान की नित्य शुद्ध-बुद्ध शक्ति के वे प्रतीक थे :

हे मनस्वि, श्रद्धा में अखण्डित हो।
दूरगत आशा-मध्य सुप्रतिष्ठ,
कौन वृद्ध तुम हे तपस्वि ! नित्य एकनिष्ठ ?

उनके सत्याग्रही निर्भय रूप की झाँकी भी गुप्त जी ने दी है। 'कारागार' के संबंध में उनकी उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं। 'कारागार' के हिंस्र रूप का निषेध करते हुए कवि प्रश्न करता है :

घृण्य वह कारागार ?
वह तो अबन्धन का मुक्ति-द्वार !

× × ×

मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु !

अन्तिम कविताओं में मानवता के ह्रास पर कवि का क्षोभ भी व्यक्त हुआ है। जीवन की विडम्बना, रक्तपात तथा हिंसा से ग्रसित यह पृथ्वी क्या आज विनाश के पथ पर जा रही है ? क्या 'मानव है नाश के कगार पर ?' कवि को पीड़ितों से भी पूरी सहानुभूति है :

पीड़ितों के क्रन्दन का पारावार
क्षुब्ध है धरा की मर्म-वेला में

किन्तु सब-कुछ होते हुए भी कवि निराश नहीं है। उसे प्रकृति और मानव दोनों में विश्वास है। वह मानव के भविष्य के प्रति आश्वस्त है और इस सृजनशील आस्था का प्रतीक है गाँधी का अहिंसा-दर्शन। निम्न पंक्तियाँ किसी भी प्रगतिशील काव्य की शोभा-वृद्धि कर सकती हैं :

श्री गणेश यह है नवीन के सृजन का
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का—

अथवा :

जीवन विमुक्त हं, तुम्हारे मर्त्य स्वर में
काल के अनन्त समादर में,

साधित कहाँ से यह स्वर्ग का अमर राग?
आरोहावरोह में समानोदार
सत्य का विशुद्धोच्चार ।

इस काव्य का अन्त इसी आशा-ध्वनि के साथ होता है! कवि ने युग को यही संदेश दिया है और उसकी आशा का यही मूलाधार है। इस पुस्तक में शैली प्रखर है; शब्द-चयन सिद्ध करता है कि श्री सियारामशरण हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक सिद्धहस्त शब्द-शिल्पी हैं। नवीन छंदों के सुन्दर प्रयोग किये गये हैं, जो विचारात्मक तथा मननशील काव्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

उन्मुक्त (सं० १९९७) - सियारामशरण जी के प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथों में 'उन्मुक्त' की भी गणना की जाती है। यह एक सजीव गीत-नाट्य है, जिसकी प्रेरणा कवि को गाँधीजी के अहिंसावाद से मिली। विश्व-युद्ध में जब वायुयान-वर्षा से चहुँ ओर निरीह निशस्त्र जनता पर पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था, तब रुग्ण कवि की दृष्टि सहसा हिंसा-ग्रस्त मानव के विश्लेषण की ओर गयी और गाँधीवाद के अहिंसात्मक युद्ध के रूप को स्पष्ट करने के लिए इस काव्य की रचना हुई। मैथिलीशरण ने अपनी भूमिका में कहा है कि रोग के कारण कवि का शरीर शिथिल होता जा रहा था किन्तु मन सक्रिय। जागरूक चेतना के सभी लक्षण इस गीत-नाट्य में विद्यमान हैं। युद्ध की भूमिका में मानव के मूलभूत सिद्धांत और नव-समाज-व्यवस्था के निर्माण की ओर सुन्दर संकेत किया गया है।

इसमें द्वीपों की सुन्दर कल्पना की गयी है। यथा: लौहद्वीप, रौप्यद्वीप, स्वर्णद्वीप और कुसुम-द्वीप। कोमल और कठोर दोनों पक्षों के सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। कवि की वर्णन-शक्ति और कथोपकथन की शैली का भी सुन्दर परिचय मिलता है। किन्तु विषय-वस्तु के प्रसार में शिल्पाभाव पाठक को खटकता है। कवि जिस उद्देश्य को स्थापित करने चला था, उसमें वह पूर्ण सफल नहीं हुआ है। समस्त ग्रन्थ पढ़कर पाठक को लगता है कि हिंसा का ही पक्ष प्रबल अथवा कर्मण्य है। अहिंसा में शक्ति तो अवश्य है, और कदाचित् हिंसा की शक्ति से अधिक है; किन्तु यथार्थ जीवन-क्षेत्र में मानो उस अहिंसा का कोई परिणाम पाठक के समक्ष नहीं उपस्थित होता! पाठक एक प्रकार से अतृप्त-सा रहता है और यवनिका-पात हो जाता है।

यंत्र-युग के अभिशापों का सजीव वर्णन जगह-जगह मिलता है। संसार में

पशु-बल का तांडव हो रहा है; मानव अपना देवत्व तो खो ही चुका है, वह मनुष्यत्व भूलकर 'पिशाच' भी बनता जा रहा है। उसकी सारी शक्ति सैन्य-बल अर्जन में समाप्त होती जा रही है। विनाश और संहार के स्वर धरित्री को कँपा रहे हैं। ऐसे वातावरण में कवि ने 'लौहद्वीप' रूपी हिंस्र विश्व को 'कुसुमद्वीप' में परिणत करने का मोहक स्वप्न देखा है। किन्तु पुस्तक में वर्णित कथा-भाग इसे व्यावहारिक रूप नहीं देता। अहिंसक द्वीप हिंसा द्वारा पराजित है। हाँ, कुसुमद्वीप के मानव ने अपनी आत्मा को इस कष्ट के बीच पा लिया है। 'आत्मानां विधि' सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जब अपने को पा ले तभी वह 'उन्मुक्त' है। अन्त में, पुष्पदन्त अपनी भूल इन शब्दों में स्वीकार करता है :

इस अविजय में बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था;
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।

अपनी पराजय में उसने यह पाया :

आज की इस अविजय में
अनुभव मैंने किया अटल अभिनव प्रत्यय में—
पौरुष है अविजेय !

कवि के निष्कर्ष को इन शब्दों में देखिये :

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी मंगल है।
मिला हमें चिरसत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर !

इन पंक्तियों में कवि ने गाँधीवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। गुणधर, पुष्पदन्त और मृदुला के चरित्र-चित्रण में कवि ने अपने को आत्मसात् किया है। जीवन के कोमल क्षणों का सुन्दर दिग्दर्शन है। अनेक स्थल मर्मस्पर्शी हैं और युद्धोत्तर विध्वंस के चित्र सजीव और यथार्थ हैं। अपने पुत्र की मृत्यु पर मृदुला माँ का ममतामय चित्र पाठक के हृदय में गहरी करुणा का संचार कर देता है। सुश्रुषालय में गुणधर के सामने युद्धभूमि का नृशंस चित्र नाच उठता है। 'एकान्त' सर्ग में गुणधर का हिंसा पर स्वगत-कथन मर्मस्पर्शी है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह एक सुन्दर गीत-नाट्य है, परन्तु कवि अपने उद्देश्य में पूरा सफल नहीं हो सका है।

दैनिकी (सं० १९९९)—सन् १९४२ के आसपास विश्व-व्यापी युद्ध का पूरा प्रभाव इस देश के जीवन पर पड़ चुका था। दैनिक जीवन की अनेक कठिनाइयों के बीच मनुष्य अपना निर्वाह कर रहा था। ऐसे समय नगण्य वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो उठी थी। कदाचित् ऐसे ही वातावरण में कवि का ध्यान जीवन की नित्य-प्रति होनेवाली नगण्य घटनाओं की गम्भीरता की ओर गया और ऐसी अनोखी कविताओं का जन्म हुआ जो इस पुस्तक में गुप्तजी ने संग्रहीत की हैं। दैनिक जीवन के कष्टों की गाथा गाकर अनेक कवियों ने नीरस कविताओं के सहारे अपने को 'प्रगतिशील' कोटि में रखकर आत्म-सन्तोष-लाभ किया है। उस दृष्टि से गुप्तजी 'दैनिकी' में प्रगतिशील काव्य-क्षेत्र में गिने जा सकते हैं। साठ-सत्तर कविताओं का यह संग्रह गुप्तजी के अन्य काव्य-ग्रन्थों की अपेक्षा अनोखापन लिये हुए है। प्रायः सभी कविताएँ बहुत छोटी हैं और वे एक ख़ास घटना को लेकर विचार-विशेष पाठक के मन में जाग्रत करती हैं। इसमें कवि की बीमारी के दिनों का भी आभास मिलता है। 'रुद्ध-कक्ष' शीर्षक कविता में रुग्ण-शय्या पर पड़े हुए प्राणी की वाणी मुखर हुई है। 'सजग द्वन्द्व' एक बहुत सुन्दर रचना है, जिसमें रात्रि के व्याकुल क्षणों का सुन्दर चित्र खींचा गया है; रोगी की आशा-निराशा का द्वन्द्व इसमें अच्छी प्रकार वर्णित है। 'मजूर', 'आज का पन्ना' तथा 'अंडमान' जैसे विषयों पर कविताएँ रोचक बन पड़ी हैं। 'अंडमान' से देश-निष्कासन के स्थान पर मानवीय संकीर्णता का ज़िक्र किया गया है। यथा :

राष्ट्र-राष्ट्र का निष्कासन है, निज के छोटेपन में,
अण्डमान हो रहे प्रतिष्ठित, देश-देश, जन-जन में।

युद्ध-त्रस्त विश्व तथा रोग-ग्रसित अपने जीवन की पृष्ठभूमि पर भी कवि की आत्मा में किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं है। वह जीवन के असंख्य क्षेत्रों तक अपनी सहानुभूति का जल पहुँचाता है। आकाश, पृथ्वी, पशु-जगत् और मानव सभी उसकी करुणा का भाग प्राप्त करते हैं, और जीवन-मृत्यु के संघर्ष के बीच भी 'आशान्वित' होकर कवि कह उठता है :

इस वसुधा को मैं प्यार करूँगा; तब भी,
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है !

और—

छोड़ूँगा अंचल नहीं धरा का तब भी
इसकी माटी निर्ज्वलन सिन्धु—सुस्नाता !

उषा, संध्या, रात्रि, अन्धकार, प्रकाश, पृथ्वी, आकाश इत्यादि के सुन्दर चित्र इसमें मिलते हैं। 'उद्गम' शीर्षक कविता में करुण-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है, और इसकी कई पंक्तियाँ हृदय पर गहरी चोट करती हैं। संक्षेप में, यह संग्रह युद्ध-जनित दैनिक घटनाओं की प्रतिक्रियाओं की एक प्रकार की डायरी है।

खण्ड काव्य

नकुल (सं० २००३)—यह एक खण्ड-काव्य है और इसका आधार महाभारत का वन-पर्व है। महाभारत गुप्त-बन्धुओं का प्रिय ग्रन्थ है। उसी में से अमृतहृद का कथा-भाग लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। मूल वस्तु का उपयोग करने में कवि ने स्वतन्त्र दृष्टि से काम लिया है। समस्त काव्य में एक प्रकार का उन्मुक्त वातावरण है; वन, उपत्यका, गंगा-तट, अमृत, पर्वत तथा अमृत-हृद इसकी क्रीड़ा-भूमि हैं। विशाल प्रकृति की भूमिका में मानव के ईर्ष्या-द्वेष तथा पारस्परिक स्पर्द्धा का उत्पीड़न आत्मा को झक-झोर देता है।

इस काव्य का काल उस समय से सम्बन्धित है, जिस समय पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ बारह बरस का वनवास पूरा कर रहे थे। उसी अवधि के अन्तिम दिन से इसकी कथा प्रारम्भ होती है, जब इस वन को छोड़ उन्हें पूरे एक बरस के लिए अज्ञात वास के लिए कहीं चले जाना था। उसी समय एक साधारण-सी घटना घटी जो आज लोक में प्रचलित है: यज्ञ की अरणि और मथनिका कोई मृग अकस्मात् ले गया। उन्हें तपस्वी के हेतु पास लाने के लिए युधिष्ठिर धनुष-बाण लेकर मृग के अनुसंधान में चल पड़े। शेष पाण्डव द्रौपदी-सहित इसके पूर्व ही भ्रमणार्थ अमृतहृद की ओर निकल चुके थे। दुर्जय और वज्रबाहु—जो दुर्योधन-दल के दो व्यक्ति थे—अमृत-हृद को विषाक्त बना ही चुके थे, जिससे पाँचों पाण्डव की जीवन-लीला समाप्त हो। इस काव्य में पात्र थोड़े-से ही हैं और कथा-प्रवाह अबाध रूप से चलता है। पात्र लगभग सभी महाभारत के अनुरूप ही चलते हैं। मणिभद्र के माध्यम से ही युधिष्ठिर तथा नकुल के चरित्र-विकास में सहायता मिलती है। यह अलकापुरी से निर्वासित एक यक्ष है, जो अमृताचल पर कुछ समय से रह रहा है। इसके पास संजीवनी बूटी का एक ही कण है, जिसके प्रयोग से वह

केवल एक मृतक प्राणी को जिला सकता है। मणिभद्र युधिष्ठिर से पूछता है कि किसको जिलाया जाय?

"था जब मैं कैलासपुरी में गरल-विदारण
मुझे मिला था वहाँ एक लघु संजीवन-कण;
कहें किसे दूँ उसे यहाँ इस कठिन समय में,
मुझे रंच आपत्ति न होगी उस निर्णय में।"

तो युधिष्ठिर उत्तर देते हैं:

"नकुल!"—उसी क्षण अनायास कह गये युधिष्ठिर
उत्तर उनका वहाँ प्रथम ही हो ज्यों सुस्थिर।"

इस उत्तर में ही मानो गुप्तजी ने अपने काव्य की समस्त विषय-वस्तु केन्द्रित कर दी है। प्राचीन कथा में इस विशेषता को रखकर गुप्तजी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का ही परिचय नहीं दिया है, अपितु उन्होंने अनजाने में अपने पारिवारिक जीवन की किसी अवचेतन ग्रन्थि की ओर भी सहसा संकेत कर दिया है। लघु-ज्येष्ठ की इस मनोवैज्ञानिक समस्या अथवा भाव-ग्रन्थि का ऊहापोह करना हमारा लक्ष्य नहीं है; किन्तु आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के ज्ञाता पाठक कदाचित् उस काव्य में गुप्त जी के वैयक्तिक जीवन की इसी झलक की ओर अप्रिय संकेत कर सकते हैं। कवि का तात्पर्यार्थ उसी के शब्दों में सुनिए:

"छोटे के भी लिए बड़े-से-बड़ा समर्पण
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण।

× × ×

करना होगा बड़ा त्याग निज सुख जीवी को
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को।"

आगे धर्मराज मणिभद्र को स्पष्ट करते हुए सान्त्वना देते हैं:

लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन,—नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे।
जितना आगे उदित हुआ है जो जन हममें,
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में।

द्रौपदी के चरित्र-चित्रण में भी कवि ने विशेष श्रम किया है और गंगा-तट के बीच पांचाली की मनमोहक झाँकी पाठक को रुचिकर प्रतीत होती है। उसके ममतामय और रौद्र दोनों प्रकार के रूप इसमें मिलते हैं। सात्विक वृत्तिवाले पात्रों के चित्रण में कवि पूर्ण रूपेण सफल हुआ है, किन्तु तामसी प्रकृति के अंकन में कवि अपने हृदय से नहीं, मात्र काव्य-कौशल से काम लेता प्रतीत होता है। कथा-भाग में संवादों की अधिकता है और यह उचित ही है कि कथोपकथन के माध्यम से ही चरित्र विकसित होते हैं। एकाध स्थल पर शब्द-चित्र और वर्णन भी सुन्दर बन पड़े हैं। प्रभात का यह वर्णन देखिए :

> **चित्रण-निरत प्रभात मात्र रेखाएँ देकर,**
> **आँक रहा है विपिन कुन्ज निथि से मसि लेकर!**
> **प्राची के सीमान्त देश में झकमक-झकमक,**
> **झलक रहा है एक शिरोमणि-शोभन तारक**
> **उसका रश्मि-निकाय गगन में कल कम्पित है,**
> **यहाँ कुटी में हृदय द्रौपदी का स्पन्दित है।**

तुकांत छंदों में लिखा गया यह काव्य अपने कथा-प्रवाह तथा परिष्कृत भाषा के कारण पठन-पाठन की रुचिकर वस्तु रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

नोआखाली (सं० २००३) में राजनीति के घात-प्रतिघातों की सात्विक प्रतिक्रिया का अंकन करनेवाली ये कुछ कविताएँ सिद्ध करती हैं कि सियारामशरण का हृदय देश के स्पन्दन को ध्वनित करने की क्षमता रखता है। रुग्ण-शय्या से इतनी सजीव और स्वस्थ रचनाओं का निर्माण कवि की उर-ज्योति का परिचायक है। 'नोआखाली' में जो अनैतिक बवण्डर उठा था उसकी पीड़ा समस्त देश को हुई थी। गाँधी जी के लिए तो वह अहिंसा के सिद्धान्त का प्रयोग-स्थल ही बन चुका था। देश-विभाजन के रक्तिम इतिहास में नोआखाली मानवता का प्रकाश-तीर्थ बन चुका था। उसी अध्याय का अंकन इस लघु-पुस्तक में किया गया है। कुछ रचनाएँ 'सर्वोदय' में प्रकाशित हुई थीं। कई रचनाओं में देश की जातीय तथा सांस्कृतिक एकता पर ज़ोर दिया गया है और कवि की लोक-प्रिय कविता 'एक हमारा देश' इसके अन्त में सम्मिलित है। 'अखण्डित' और 'मातृभूमि के प्रति' शीर्षक कविताएँ इसी प्रकार की हैं। 'रमजानी' और 'पाक-कलाम' कविताएँ तत्कालीन वातावरण को सुन्दर रूप से व्यक्त करती हैं। इस संग्रह की कविताओं का मूल्य सामयिक ही है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में कवि की जो दृढ आस्था है उसका इसमें परिचय मिलता है।

जयहिन्द (सं० २००५)—यह १५ अगस्त सन् १६४७ के स्वतन्त्रता-दिवस के पुण्य अवसर पर लिखी गयी भारत-वन्दना है। लगभग ढाई सौ पंक्तियों की इस ओजपूर्ण कविता में कवि ने स्वाधीन भारत को सम्बोधित करते हुए पाठक के हृदय में उसके अतीत गौरव, वर्तमान हर्षोल्लास तथा भावी आशा को व्यक्त किया है। छंद प्रवाहमयी विषय-वस्तु के अनुरूप ही है। कवि नवयुग के नये प्रभात का इन शब्दों में आह्वान करता है :

आज के स्वतंत्र अरुणोदय में
उद्धृत धरित्री के अभय में
कोटि-कोटि सन्तति का कोटि-कोटि नमस्कार !
आज आत्म-गौरव की हानि नहीं
अन्तस् में दासता की ग्लानि नहीं...

राष्ट्रीय-ध्वजा, महात्मा गाँधी तथा जनता-जनार्दन का अभिनन्दन करते हुए कवि कितने सुन्दर शब्दों में कवि के दायित्व का वर्णन करता है :

कवि के स्वतंत्र देश
तेरे लिए कौन नया गीत आज गाऊँ मैं ?

× × ×

मेरे घट में हो आज गंगा-यमुना का नीर,
भावित हो संगम का तीर्थ-तीर;
छन्द में समुद्वेलित हो उठें प्रमोद भरी
रेवा, शोण, वेत्रवती, पंचनद, गोदावरी
उल्लसित प्रेम-प्रेरी
शिप्रा, सिन्धु, सरयू, पवित्र कृष्णा, कावेरी
सबके पुनीत अभिमज्जन से
नव-अभिषेक करूँ आज के सुदिन का;
लाऊँ मातृभूमि के चिरन्तन से
एक रस आ रही अखण्ड निर्मलिनता।

गीता-संवाद (सं० २००५)—हिन्दी के कम ही पाठक यह जानते हैं कि कविवर सियारामशरण जी ने गीता का समश्लोकी अनुवाद भी किया है। गुप्त-बन्धुओं में गीता सदा से ही प्रिय रही है। उनकी

वैष्णव-भावना और गाँधीवादी अहिंसा की तुष्टि गीता-पाठ से ही होती रही है। गाँधीजी की सदा यह इच्छा रही थी कि श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद अनेक लोक-भाषाओं में हो, जिससे अनासक्ति-योग सर्व-सुलभ हो और लोक-कल्याण का उद्देश्य सफल हो। बापूजी ने एक बार विनोबा जी को इसी प्रकार का एक पत्र लिखा था। इस अनुवाद की प्रेरणा उसी पत्र से कवि को प्राप्त हुई है। कवि को अपनी ज्ञान-सीमा का ज्ञान है। वह समझता है कि संस्कृत के इस गेय ग्रन्थ का समश्लोकी अनुवाद ठीक रूप में प्रस्तुत करने के लिए जो ज्ञान और प्रतिभा आवश्यक है, वह शायद उसमें नहीं है। फिर भी हृदय की श्रद्धा और आस्था का संबल लेकर उन्होंने यह अनुवाद प्रस्तुत किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक स्थल पर यथार्थ ही कहा है कि भारतवर्ष का हृदय अनुष्टुप् छन्द में स्पन्दित हुआ है। गीता भी इसी छंद में है और हिन्दी में किन्हीं कारणों से इस छन्द का प्रयोग नहीं हुआ। अनुवादक की कठिनाई इस बात से और भी बढ़ गई है, यद्यपि उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन कर इस असुविधा से मुक्ति प्राप्त करने की कोशिश की है। उन्हीं के शब्दों में यदि कहें तो :

"अनुष्टुप् आदि में पादान्त के लघु को दीर्घ करने की क्रिया हमारे लिए अस्वाभाविक हो सकती है।"

संस्कृत-साहित्य का रसास्वादन करनेवाले पाठकों को अनुवाद में उक्त परिवर्तन नहीं रुचेगा। उनकी सम्मति में यह समश्लोकी अनुवाद दुरूह है, और प्रासादिकता तो नाम को नहीं। हिन्दी के पाठकों को इसकी अव्यवस्थित तथा अप्रचलित भाषा-मुहावरे खटकेंगे। समश्लोकी होने के कारण भाषा में विचित्रता आ गयी है और अनेक अव्यवहार्य प्रयोग इस अनुवाद में मिलते हैं। यथा :

१—*मेरों* ने पाण्डवों ने भी कहो सञ्जय क्या किया ?
२—प्रसाद सब दुःखों को अविलम्ब *निवारता*।
३—धर्म की ग्लानि *वा* हानि होती है जब भारत
होती अधर्म की *वृद्धि* लेता हूँ जब जन्म मैं।
४—जहाँ योगेश श्रीकृष्ण जहाँ पार्थ धनुर्धर
***मेरी मति* वहीं नित्य जय-श्री निधि नीति है।**

इस प्रकार छन्द-निर्वाह के कारण अनेक अप्रचलित प्रयोग इस अनुवाद में आये हैं। कहीं-कहीं शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उनके अर्थ और भाव-ग्रहण में बाधा पड़ती है।

फिर भी गीता के समश्लोकी अनुवाद के श्रद्धापूर्ण प्रयास के रूप में हिन्दी-जगत् 'गीता-संवाद' को याद रखेगा।

नाटक

पुण्य-पर्व (सं० १९८९)—सियारामशरण जी ने अब तक केवल एक ही नाटक लिखा है। विचार-प्रधान नाटक शायद ही कभी पूर्णतया सफल होते हैं। नाटक के लिए चरित्र-चित्रण और द्वन्द्व की मुख्य आवश्यकता रहती है। 'पुण्य-पर्व' नाटक में लेखक इस दृष्टि से तो सफल है कि इसमें दो विरोधी पात्र खड़े किये गये हैं, और 'अहिंसा' सिद्धान्त इसका मूलभूत विचार-विन्दु है; किन्तु नाटकीय कथावस्तु में जो प्रवाह, गति और बल होता है, उसका इसमें अभाव है। कदाचित् इसीलिए बाद में गुप्तजी ने नाट्य-रचना करना त्याग दिया होगा।

नाटक में भगवान् गौतम बुद्ध के जन्म के पूर्व का वातावरण है, जब 'असत्' की विजय में मनुष्य का विश्वास था और यज्ञ, वलि, कर्मकांड आदि की प्रधानता थी। पूर्व बौद्ध-कालीन समय की भूमिका पर आज के समाज की अवस्था का चित्रण कितना स्वाभाविक है! हिंसा-अहिंसा का संघर्ष, जिसे गाँधीजी के व्यक्तित्व ने पूरे ज़ोर के साथ इस युग के सामने रखा, इस नाटक में प्रदर्शित है। नर-वलि के विरुद्ध आवाज़ उठाना ही लेखक का लक्ष्य है इतना ही नहीं वह समाज के मूल तत्वों की विवेचना कर अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहता है। अपने प्रायः सभी ग्रन्थों में गुप्तजी ने इसी विचार-धारा से प्रेरणा ग्रहण की है और इस नाटक की रचना भी इसी भाव-भूमि पर हुई है।

इसके लिए लेखक ने दो विरोधी पात्रों की सृष्टि की है: सुतसोम जो सत् और 'चेतना' का और ब्रह्मदत्त जो 'असत्' और 'हिंसा' का प्रतीक है; दोनों का संघर्ष राजनीति के क्षेत्र में आकर मूर्त हो उठता है। ब्रह्मदत्त और सुतसोम यों तो दोनों तक्षशिला में आचार्य सुबन्धु के यहाँ सहपाठी रहे हैं, किन्तु प्रारम्भ से ही दोनों की विचार-धाराओं में मौलिक अन्तर रहा है। इस समय ब्रह्मदत्त वाराणसी से सिंहासन-च्युत है और प्रतिहिंसा की अग्नि में जल रहा है। उसने अपने और सुतसोम के जनपदीय क्षेत्रों में आतंक फैला रखा है और सोमवती के पुण्य अवसर पर सौ पुरुषों की बलि देना निश्चय किया है। वह सुतसोम को भी बन्दी कर लेता है और नर-यज्ञ में हवि देने को तत्पर है। उसी समय सुतसोम अपने वचन-पालन, कर्तव्य-निष्ठा और अहिंसायुक्त सत्य आचरण से ब्रह्मदत्त का हृदय-परिवर्तन कर देता है, और यवनिका-पात के समय वह कह उठता है:

मेरे जीवन की अमावस्या में आज सचमुच ही सोमवती के पुण्यपर्व का उदय हुआ है।

बलि का तात्पर्य समझाते हुए सुतसोम कहते हैं :

बलि का यह अभिप्राय नहीं कि हम अपनी या किसी दूसरे की हत्या कर डालें। हमारे भीतर जो अहंभाव है, भगवान् के चरणों में उसी की बलि देना ही सबसे बड़ी बलि है।

'पुण्य-पर्व' नाटक का सांस्कृतिक धरातल बहुत ऊँचा है। उद्देश्य की दृष्टि से यह सांस्कृतिक चेतना का नाटक है, और इसमें मानव की उदात्त वृत्तियों की स्थापना की गयी है। आत्मबल द्वारा पशु-बल पर विजय पायी गयी है। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि हृदय-परिवर्तन द्वारा ही विश्व सुसंस्कृत हो सकता है। इस नाटक का वातावरण शुद्ध और सात्विक है, जो हमारे मन को छूता है।

पात्रों का चित्रण विभिन्न रेखाओं और रंगों द्वारा किया गया है, किन्तु वे सजीव कम हैं। पात्र नहीं, उनमें लेखक अधिक बोलता है। दार्शनिकता के बोझ ने उनकी 'मानवीयता' को दबा दिया है। वे विचारों के मूर्त-रूप प्रतीत होते हैं; सजीव सशरीर मानव नहीं। भाषा भी इसी कारण दुरूह हो गई है। वातावरण की दृष्टि से नाटक सफल है। द्वन्द्व भावना तीक्ष्ण है, और कलाकार का उद्देश्य सुस्पष्ट है। कुछ निम्न स्तर के पात्रों में किंचित् हास्य-व्यंग्य का भी समावेश है। स्त्री-पात्र इसमें तीन हैं जिनमें प्रधान है सुतसोम की पत्नी विशाखा, जो आर्य-सभ्यता की सुन्दर प्रतीक है। उसकी दो दासियाँ पूर्णा और उत्पला हैं, जिनका कार्य नगण्य ही है। समस्त नाटक की कथा-वस्तु सुतसोम की राजधानी हस्तिनापुर और 'मृगचिरा' नामक ग्राम और उसके पार्श्ववर्ती ग्राम में केन्द्रित है। रंगमंच की दृष्टि से नाटक असफल है; किन्तु पाठक की चेतना और विवेक को जाग्रत करनेवाले सोद्देश्य रचना के विचार से नाटक नगण्य नहीं।

उपन्यास

सफल कवि के अतिरिक्त सियारामशरण जी हिन्दी के एक प्रमुख उपन्यास-कार भी हैं, यह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। उनकी चेतना नवीन है और अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति के कारण वे एक के बाद दूसरी सुन्दर कलाकृति भेंट देते जाते हैं। गुप्त जी के तीन उपन्यास हैं—(१) 'गोद'; (२) 'अन्तिम आकांक्षा'; (३) 'नारी'। इनमें से अन्तिम उपन्यास बहुत लोकप्रिय

हुआ है। उसकी-सी मार्मिकता कथा-साहित्य में कम ही मिलती है। उपन्यासों में यह कवि सफल हुआ है, यद्यपि यह आश्चर्य का ही विषय है कि भाव-क्षेत्र में विचरण करनेवाला कवि घटनाओं के जाल में कैसे प्रवेश कर पाता है! सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो उपन्यास और काव्य के सृजन में समान निर्माणकारी शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। कवि केवल भावनाओं का चित्रण करता है। उपन्यासकार को भावना एवं घटना दोनों का ही सुन्दर मिश्रण करना पड़ता है। सियाराम में यह क्षमता है, और यही कारण है कि कवि होते हुए वे सफल उपन्यासकार भी हो सके। इसी संबंध में एक बात और है कि यह कवि अपनी काव्य-कृतियों में भी विचार-प्रधान रहा है, और अनेक प्रकार के सजीव पात्र खड़े करता रहा है। पात्र-निर्माण और घटनाओं के उचित संयोजन से ही किसी उपन्यास की कथा-वस्तु प्रस्तुत होती है और इस प्रकार की प्रतिभा इस कवि में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। इतिवृत्तात्मक काव्य के रचयिता उपन्यास में असफल होते कम ही देखे गये हैं।

सियारामशरण के प्रायः तीनों उपन्यासों में ग्राम-जीवन प्रदर्शित हुआ है। उनकी वृत्ति ग्राम-संसार में ही रमती है और ह्रासोन्मुख ग्रामीण-संस्कृति के अनेक सजीव चित्र उनके इन तीनों उपन्यासों में मिलते हैं। उनके पात्र सीधे और सच्चे हैं; उनमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक उलझनें नहीं हैं। मानवता का सात्विक संदेश वे हमें देते हैं और अपने सरल, सतोगुणी वातावरण से पाठक पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं।

गोद—इस उपन्यास में एक ग्रामीण गृहस्थ की सरल कथा है। दयाराम के भाई शोभाराम का विवाह एक विधवा कौशल्या की पुत्री किशोरी से निश्चित हो जाता है। प्रयाग-संगम-मेले के अवसर पर किशोरी अपनी माँ से बिछुड़ जाती है। रात भर की खोज के पश्चात् सेवा-समिति के लोग उसे कौशल्या के पास पहुँचा देते हैं। इसी घटना के कारण अबोध किशोरी समाज के सन्देह का शिकार बनती है। समाज अथवा लोकमत में शंकित पाप का बड़ा महत्त्व है। हिन्दू समाज में भी यह अक्षम्य अपराध है, अतएव शोभाराम के भाई दयाराम की आज्ञानुसार यह संबंध विच्छिन्न हो जाता है। धन-लिप्सा और लोकापवाद की शरण लेकर दयाराम पृथ्वीपुर के जमींदार के यहाँ संबंध पक्का कर लेते हैं। विधवा कौशल्या इस अन्याय को सहन न कर सकी। फलस्वरूप वह बीमार हो जाती है। उसकी इस संकटापन्न अवस्था को देखकर शोभाराम का हृदय पिघल जाता है; किन्तु दयाराम अब भी अपनी स्वीकृति नहीं देते। सामा-

जिक अत्याचारों का उद्घाटन यहाँ लेखक ने बड़े ज़ोर से किया है। शोभाराम के साहस का सुन्दर उदाहरण भी मिलता है। उसने गुप्त रूप से किशोरी को अपना लिया। जब किशोरी अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर देती है तभी दयाराम का हृदय परिवर्तन होता है। शोभाराम भी अपना विद्रोह समाप्त कर भाई की गोद में पुनः शरण लेता है। अश्रु-धाराओं के संगम में हृदयों की संकीर्णता और कठोरता द्रवित हो उठती है, और सुखद पारिवारिक सामंजस्य के बाद उपन्यास समाप्त होता है। लेखक के शब्दों में अन्त इस प्रकार है:

आँसुओं की दोनों धाराओं ने एक में मिलकर एक दूसरे संगम-तीर्थ के जल से दयाराम की 'गोद' भर दी।

इस उपन्यास का कथानक सीधा-सरल तो है, किन्तु वैचित्र्यपूर्ण कौतूहल भी इसमें मिलता है। इससे कथा-प्रवाह में तीव्रता आ गई है। अन्तर्द्वन्द्व के भी कई स्थल इसमें हैं जो उपन्यास को आधुनिकता का वातावरण प्रदान करते हैं। शोभाराम को साहसी दिखाना भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। हिन्दू-समाज में किंचित् संदेह के कारण भी नारी को दोषी समझ लिया जाता है; इसी अन्याय के विरुद्ध इस उपन्यास में स्वर उठाया गया है। गुप्त जी ने हमारी इस दोषपूर्ण धर्म-नीति का विरोध किया है; किन्तु इस विरोध में विद्रोह-भावना अथवा प्राचीन संस्कारों के उन्मूलन का स्वर नहीं है।

<u>अंतिम आकांक्षा</u>—यह गुप्तजी का दूसरा उपन्यास है जो कभी-कभी पाठक को रवीन्द्र की अमर कहानी 'काबुलीवाला' का स्मरण करा देती है। काबुली-वाला जैसे मिनी के प्रति वात्सल्यपूर्ण था उसी प्रकार इस उपन्यास का नायक 'रामलाल' अपने स्वामी की पुत्री के प्रति श्रद्धालु है। यह नौकर रामलाल स्वामि-भक्त है और मान-अपमान के प्रति बड़े तीव्र रूप से सजग है। उपन्यास एक प्रकार से आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। एक उपेक्षित नौकर को उप-न्यास का नायक बनाकर गुप्तजी ने दलित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रद-र्शित की है। इस उपन्यास में भी हमें मानवता का संदेश मिलता है और इसको पढ़ने के बाद पाठक के हृदय में स्नेह, करुणा और सहानुभूति की भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

इस उपन्यास का कथानक असंगठित है। अपने गति-प्रवाह के कारण एक प्रकार की अनिश्चितता इसमें मिलती है, जो जीवन की ही परिचायक है। समस्त घटनाएँ नायक के व्यक्तित्व से संबंध रखती हैं और उसी में उनका पर्यवसान है। नायक रामलाल सत्य-परायण और निर्भीक है। उसका साहस और

कार्य-कौशल प्रशंसनीय है। उसमें अन्याय के विरुद्ध मोर्चा लेने की बड़ी भावना है। बदला लेना वह खूब जानता है, किन्तु अपने प्रति वह उदासीन है और ईश्वर में अपनी आस्था का ही आश्रय लेता है। स्वामी के लिए वह अपने बाहु-बल से भी कार्य लेता है। वह अन्याय का विरोध करने के कारण ही जेल जाता है, और वहीं मर जाता है। मरते समय वह निम्न शब्दों में अपनी अन्तिम आकांक्षा व्यक्त करता है :

अपने ही गाँव में झट से जन्म लूँ। दूसरे जन्म में मैं फिर तुम्हारी चाकरी में पहुँचूँ।

उपन्यास का भाव धरातल ऊँचा है। एक दो स्थल मार्मिक हैं। शृंगार रस का पूर्णतया अभाव है; फिर भी उपन्यास का वातावरण शीतल और आर्द्र है, जो पाठक के मन को भाता है। हिन्दू-समाज की कई कुरीतियों का इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। रामलाल के अतिरिक्त और पात्र नगण्य हैं। इस उपन्यास से पाठक को गुप्तजी के परिवार के वातावरण की झाँकी मिल जाती है।

नारी—गुप्तजी के तीनों उपन्यासों में 'नारी' ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की और वही सबसे अधिक लोकप्रिय हो सका। इसके अनेक कारण हैं। यह उपन्यास कला और भाव उभयपक्षों की दृष्टि से लेखक की सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'नारी' भारतीय नारी के जीवन की करुणा का सजीव चित्रण इसमें है जो अन्यत्र नहीं मिलता। मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा में अबला जीवन पर जो उक्ति कही है, वही इस उपन्यास में चित्रित हुई है। हिन्दू-नारी का अदम्य स्नेह, आत्म-त्याग और करुणा सभी कुछ इसमें कलात्मक रूप से व्यंजित हुए हैं। इसकी नायिका जमुना हिन्दी-उपन्यास की अमर पात्र है।

'नारी' का भी घटना-स्थल भारतीय ग्राम ही है, इसमें केवल एक बार कथा-क्रम कलकत्ते तक जाता है, और फिर लौटकर ग्राम में ही आ जाता है। समस्त पुस्तक भारतीय ग्राम-जीवन के वातावरण से ओतप्रोत है। कथा भी सीधी-सादी है। जमुना का पति वृन्दावन है, जो अपने दारिद्र्य का भार दूर करने कलकत्ता चला जाता है। उसका पुत्र हल्ली है जिसके प्रतिवात्सल्य के सहारे जमुना इतने दिन जीवित रही है। वृन्दावन का कोई समाचार नहीं मिलता है। यह नारी अपने पुत्र का लालन-पालन करती रहती है। अपने पति-आगमन की प्रतीक्षा का सहारा लेकर अपने आँचल के दूध को वात्सल्य-रस में प्रवाहित करती रहती है। हल्ली का चित्रण गुप्तजी ने बड़े स्वाभाविक रूप में किया है। वह

अपनी पाठशाला में आदर्श विद्यार्थी है। बिना आधुनिक उपन्यासों की शैली की मनोवैज्ञानिक जटिलता का समावेश किये ही कलाकार ने हल्ली के चित्रण में गहरी स्वाभावकिता ला दी है। अपने पिता की भावना का ही वह अन्यतम उपासक है। जमुना के जीवन की समस्त आकांक्षाएँ हल्ली में केन्द्रित हो चुकी हैं, फिर भी उसे अपने पति के वापस आने का विश्वास है।

ऐसे समय ही अजीत इस नन्हें परिवार में प्रविष्ट होता है। वह एक निःस्वार्थ प्राणी है, जो अपनी पूरी सहृदयता के साथ जमुना के नीरस ऐकान्तिक जीवन में आकर उसकी सहायता का व्रत लेता है। वृन्दावन की खोज में उसने दिन-रात एक कर दिया, और प्रत्येक प्रकार से जमुना के जीवन में नवीन ध्येय की प्राण-प्रतिष्ठा करने का यत्न किया। जब सहसा वृन्दावन के जीवित होने का समाचार मिलता है तो जमुना को प्रतीत हुआ कि उसके जीवन की तपस्या फलीभूत होगी, किन्तु मोतीलाल और उसके पुत्र हीरालाल की दुष्टता के फलस्वरूप वह गाँव में आकर भी जमुना से बिना भेंट किये लौट जाता है, और मौन जमुना पाषाणवत् हो इसे सहन करने को तत्पर हो जाती है। शठता की विजय के कारण पाठक की सहानुभूति जमुना के प्रति और भी बढ़ जाती है।

जमुना और अजीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर हिन्दी-आलोचकों में काफ़ी वाद-विवाद चलता रहा है। मनोवैज्ञानिक युग में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अधिक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति से यही हानि होती है। कुछ लेखकों ने जमुना के अजीत के प्रति आकर्षण को ऐन्द्रिक माना है। इसमें वे जमुना का नितान्त पतन देखते हैं, किन्तु ऐसा निर्णय देना असहानुभूतिपूर्ण तो है ही, अनुचित भी है। अजीत को स्वीकार करने में जमुना का पतन नहीं नारी मात्र का उत्थान है—ऐसा हमारा मत है। उस स्वीकृति में यौवन-आकर्षण नहीं, कृतज्ञता की मानवीय व्यंजना है, और उसमें भी पति और पुत्र के प्रति प्रेम निहित है। अजीत के चित्र को इसी सूक्ष्म-दृष्टि से समझने का यत्न करना चाहिए। वह स्वार्थी कहा जा सकता है; किन्तु दुष्ट और नीच नहीं है। वह नारी की भावनाओं को ख़ूब समझता है; उसके लिए वह बड़े-से-बड़ा भी त्याग कर देता है, समाज की उपेक्षा तक करता है और जमुना का आदर करता है। वह नारी को केवल भोग्य वस्तु नहीं समझता। उसमें अनेक कमज़ोरियाँ हैं, किन्तु वे स्वाभाविक हैं। सत्यनिष्ठ होकर वह जमुना को उसके पति वृन्दावन से मिलाना चाहता है, और यही उसकी विशेषता है, जो उसकी दुर्बलताओं पर स्वर्णमय आवरण डाल देती है।

गुप्तजी के उपन्यासों में एक ऐसे प्रकार की मानवीयता है, जो पाठक को अभिभूत कर डालती है। मर्मस्पर्शिता उनका प्रधान गुण है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है, उसमें बनावट अथवा अस्वाभाविकता नहीं। कथा-प्रवाह अबाध गति से बहता है और चरित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। आधुनिक उपन्यासकार होते हुए भी उनमें किसी प्रकार की अस्पष्टता तथा जटिलता नहीं है।

निबन्ध

झूठ-सच (सं० १९९६)—श्री सियारामशरण जी से निबन्ध भी अछूता न रहा। इस संग्रह में उनके समय-समय पर लिखे गये लगभग अट्ठाईस निबन्ध संकलित हैं। निबन्धों के रचना-काल में कई वर्षों का अन्तर है। ये निबन्ध लेखक की रुग्णावस्था में लिखे गये प्रतीत होते हैं। अस्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क के ये परिचायक हैं और कई दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय हैं। अधिकांश निबन्ध आत्म-कथात्मक हैं; इनमें लेखक के सजग तथा चैतन्य संवेदनशील व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। दैनिक-जीवन की नगण्य घटनाओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप इन सुन्दर निबन्धों की रचना हुई है। इसमें कहानी भी है, घटनाओं का चित्रण है, प्राकृतिक वर्णन है, व्यक्तिगत संस्मरण हैं; जीवन की मार्मिक घटनाओं की अभि-व्यंजना करनेवाले गद्य-काव्य के अंश भी हैं। यही नहीं, साहित्य और राज-नीति-सम्बन्धी समस्याओं की तार्किक विवेचना भी है, पर सभी रचनाओं में सरल आत्मीयता प्रकट होती है, जो अपनी सहानुभूति, करुणा और संवेदन-शीलता के कारण पाठक के मर्म को स्पर्श करती है। पाठक इन भावनाओं में अभिभूत होकर आनन्दित हो उठता है।

इस पुस्तक का नामकरण इसके अन्तिम निबन्ध से हुआ है, जिसमें रधिया और काशीराम के चित्रण द्वारा लेखन-व्यवसाय के झूठे-सच्चे प्रयासों पर मृदु व्यंग्य करते हुए निम्न-वर्ग की नारी की करुणापूर्ण कथा कही गयी है। इसे निबन्ध न कहकर कहानी ही कहना शायद उचित हो। साहित्य-कर्म में लीन व्यक्ति मानवता को नहीं चीन्ह पाता और जगत् निर्मम होकर अपना निर्णय दे देता है। इस निबन्ध में लेखक का कवि-हृदय स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'हिमालय की झलक' में लेखक ने अपनी नैनीताल-यात्रा का सरस वर्णन किया है। पर्वत-प्रदेश में जो एक प्रकार की विराट् भावना उद्भूत होती है,

उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हमें इसमें मिलती है। 'कवि की वेश-भूषा' शीर्षक निबन्ध में लेखक की हास-परिहास की वृत्ति प्रदर्शित है। इन रचनाओं में लेखक अनेक स्थानों पर अपने पर, और अपने विरुद्ध भी हँसता रहा है। हास्य-व्यंग्य का यह मृदु-समावेश पाठक को स्मित हास्य देता है, स्थान-स्थान पर उसे कौतूहल और गुद्‌गुदी भी होती है। यह बात और भी महत्त्वपूर्ण हो उठती है, यदि हम यह स्मरण रखें कि सभी निबन्ध उस समय लिखे गये जिस समय लेखक रुग्ण था। उदाहरण स्वरूप निम्न अंश दिया जा सकता है, जिसमें लेखक की विनोद-प्रियता और कौतूहलपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं :

तब दूसरा सुझाव मेरा यह है कि कवि के लिए स्त्री-जैसा कच-कलाप अनिवार्य हो। इस पर अपने पूर्णाधिकार से वंचित होकर स्त्रियाँ इस से रूठेंगी नहीं। 'बढ़त देख निज गोत' की नीति से उनकी अखियाँ सुखी ही होंगी।

[कवि की वेष-भूषा]

कई निबन्ध विचारात्मक हैं। उनमें हमें इस लेखक की सूक्ष्म गद्य-रचना की शक्ति का पता चलता है। उलझे हुए दार्शनिक विचारों की हल्की-सुलझी हुई भाषा में व्यक्त करना इस लेखक के लिए सहज-सुलभ कार्य है। एक उदाहरण देखिए :

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रखी है। पर इसीके साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसी ने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रखा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है।' [बहस की बात]

राष्ट्र-प्रेम व्यक्त करनेवाले दो-एक निबन्ध हमें स्मरण कराते हैं कि इस लेखक में रुग्ण-शय्या पर पड़े रहने के समय भी जीवन-शक्ति विद्यमान थी। भाषा, साहित्य, वेश-भूषा, संस्कृति इत्यादि पर ऐसे अनेक वाक्य कहे गये हैं, जो यदि चुनकर प्रसंग से अलग भी कर दिये जायँ तो उनका महत्त्व और भी बढ़ जायगा। सूक्तिमय वाक्यों का यह लेखक धनी है। साहित्यिक संस्मरण की दृष्टि से 'मुन्शीजी' शीर्षक निबन्ध बहुत उपयोगी है, और स्वर्गीय मुन्शी अजमेरी जी के जीवन के अज्ञात अंशों को प्रकाश में लाया गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में भी यह लेखक सिद्धहस्त है।

इन निबन्धों की गद्य-शैली सरल किन्तु परिष्कृत है; भाषा सीधी-सादी है किन्तु प्रभाव और प्रासादिकता का अभाव नहीं है। शब्द-चयन विषयानुकूल है और गम्भीर विचारात्मक निबन्धों में भी विनोदपूर्ण तार्किक शैली का आश्रय लिया गया है, जो पाठक को प्रिय है। गुप्तजी की एकमात्र निबन्ध-रचना होने के नाते ही नहीं अपने प्रकार की अकेली साहित्यिक कृति होने के कारण भी इस पुस्तक का अनेक वर्षों तक आदर होता रहेगा।

कहानी

मानुषी (कहानी-संग्रह)—श्री सियारामशरण जी ने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं, उनका संग्रह इस संकलन में हुआ है। इसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। पहली कहानी 'मानुषी' के नाम पर इस पुस्तक का नामकरण हुआ है। काव्य और उपन्यासों के अध्ययन में हम गुप्त जी की कथा निर्माण-कला पर दृष्टिपात कर चुके हैं। पात्र खड़े करना और उसके चारों ओर वातावरण का सहज निर्माण करना गुप्त जी की कला है। मानवीय सहानुभूति और संवेदनशीलता की जो सम्पत्ति इस कलाकार में है, उसके कारण इसकी किसी भी रचना में रस का संचार हो सकता है। रस-क्षीण भी हो तो भी उसमें एक इस प्रकार का सात्विक गुण आ जाता है, जो पाठक को आत्म-तुष्टि प्रदान करता है। वह सोचता है, हिन्दी का यह लेखक चित्र में उदात्त वृत्तियों का संचालन करता है—ऐसा अन्य लेखकों में नहीं।

इस दृष्टि से इस संग्रह की कहानियाँ उत्तम हैं। कथा का टेकनीक इतना सहज और सरल है कि वह नहीं के बराबर है। सरल रूप में इति-वृत्तात्मक रूप में यह कथानक को आगे बढ़ाते हैं, और अन्त में पाठक को मानवीय हृदय के वृहद रूप के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत सभी कहानियों में एक आवश्यक तत्त्व अनिवार्य रूप से मिलता है, और वह है मानवीयता, शोषित, त्रस्त मानव के प्रति सहज सहानुभूति। प्रगतिवाद के युग में यह कहना यहाँ आवश्यक है कि गुप्तजी का यह मानवतावाद उस प्रेम, सहानुभूति और करुणा से भिन्न है जो आजकल के वर्गवादी लेखकों में प्राप्त होता है। गुप्तजी की सहानुभूति में आर्थिक दृष्टिकोण बिलकुल भी नहीं है। मनुष्य को मात्र प्राणी, मानव मानकर वे चलते हैं, और इसी मानववाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इन कथाओं का निर्माण हुआ है।

इस संग्रह की प्रथम कहानी 'मानुषी' सियाराम जी की एक ऐसी कहानी है, जो उनके कहानीकार रूप को प्रतिनिधि रूप में स्पष्ट करती है। इसमें कहानी—पार्वती-शंकर के संवाद से प्रारम्भ होती है। इस शैली ने कहानी को पौराणिक रूप दिया है। इससे प्रासादिकता अधिक आ गयी है। ग्रामीण वातावरण में मनोहरलाल और उसकी धर्मपत्नी श्यामा का चित्रण है जो अपनी गहन करुणा के कारण पाठक पर गम्भीर प्रभाव डालता है। इस चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने मानव के त्याग का ऐसा विचित्र रूप उपस्थित किया है कि आधुनिक पाठक सहसा विश्वास न कर सकेगा। श्यामा का पति मनोहरलाल जमींदार के अत्याचारों का शिकार होकर भी हिंसा-भाव का आश्रय नहीं लेता और विधवा होने पर श्यामा भी आदर्श हिन्दू-पत्नी का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह अपने उन रत्नों को अब भी रत्न नहीं समझना चाहती, जिन्हें उसने अपने पति की बीमारी के समय काँच समझकर त्याग दिया था। अन्त में वरदान प्राप्त करने के समय भी वह पति-मिलन स्वीकार नहीं करती; क्योंकि वह समझती है

अब इस लोक की मिट्टी में घसीट कर, मैं उनका आनन्द क्यों भंग करूँ।

सियारामशरण जी ने इस कहानी में श्यामा के चित्रण से सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य में देवत्व समाया होता है जो उसे देवत्व से ऊँचा पद दे सकता है। तभी तो उन्होंने श्यामा को 'मानुषी' कहा और उसे देवीपार्वती से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया। देव-लोक से भी अधिक उच्चता मानव-लोक की है। अन्य कहानियों में भी हमें यही ग्रामीण वातावरण मिलता है। भारतीय ग्रामों की दरिद्रता और उस जीवन की गहन करुणा लेखक को द्रवित करती है, और मनुष्य में उसकी आस्था गहरी होती जाती है। कई कहानियों में उन्होंने बालक की सहज बुद्धि को बड़ा बल दिया है, मानों वयस्कों को वे विवेक प्रदान करते हैं। 'काकी' 'त्याग' आदि कहानियों में बालक बड़ों को सुबुद्धि देते हैं। भारतीय राष्ट्रीय-संग्राम की पृष्ठभूमि पर भी कई कहानियों का वातावरण निर्मित हुआ है।

गुप्तजी की कहानियों की सब से बड़ी विशेषता है उनकी सादगी और बाल-सुलभ सरलता। ग्रामीण हृदय की सात्विकता उनमें स्पष्ट परिलक्षित होती है। वर्तमान आर्थिक संकट तो हमें इनमें मिलता है, किन्तु उसके प्रति एक प्रकार का मानववादी अहिंसा भाव है। कहीं भी विद्रोह-भावना अथवा तिक्तता नहीं

मिलती। इस दृष्टि से अध्ययन करने वाले पाठक को ये कहानियाँ प्रतिक्रियावादी प्रतीत होंगी। इनकी कला को हृदयंगम करने के लिए हमें उसी गाँधीवादी दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो लेखक की प्रेरणा का केन्द्र है और प्रत्येक रचना में गंगा की पवित्र धारा के समान प्रवाहित है।



कवि सियारामशरण गुप्त

[डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्]

सियारामशरण गुप्त की कविता का मैं लगभग पन्द्रह वर्षों से निरन्तर अध्ययन करता आया हूँ। वे मेरे प्रिय कवि नहीं हैं, मेरी और उनकी वृत्ति तथा जीवन-दृष्टि में इतना अधिक अन्तर है कि मैं उनके काव्य में आत्मानुभूति का सुख प्राप्त नहीं कर पाता। फिर भी मेरे मन में उनके काव्य के प्रति विशेष श्रद्धा रही है, जैसी की एक साधारण रागी व्यक्ति के मन में किसी सन्त के व्यक्तित्व और उसकी वाणी के प्रति होती है। और चूंकि आज की दुनिया में मुझसे व्यक्तियों का ही बहुमत है, सियाराम जी जैसे अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, इसीलिए उनका काव्य अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। और, यह उनके साथ अन्याय नहीं है, यह उनके काव्य की स्वाभाविक परिसीमा है।

सुस्थिर और व्यवस्थित अध्ययन के उपरान्त मेरे मन में सियारामशरण की कविता के विषय में ये धारणाएँ बनी हैं :

१. उनकी कविता का मूल भाव करुणा है।

२. उनकी काव्य-चेतना का धरातल शुद्ध मानवीय है, दूसरे शब्दों में उसका मूलभूत जीवन-दर्शन विशुद्ध मानववाद है, जिस पर गांधी जी के सिद्धान्तों की गहरी और प्रत्यक्ष छाप है।

३. इस कविता का प्रभाव एकान्त सात्विक और शांतिमय होता है।

४. परन्तु सियारामशरण ने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है, इसलिए इस कविता में जीवन का स्वाद कम है।

'मौर्य-विजय' से लेकर 'नकुल' तक सियारामशरण के अनेक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'मौर्य-विजय और 'नकुल' खन्ड-काव्य हैं, 'उन्मुक्त' काव्य-रूपक है, 'बापू' व्यक्ति-काव्य है, 'आत्मोत्सर्ग' चरित्र-काव्य है, 'आर्द्रा' में

काव्य-बद्ध कहानियाँ हैं और 'पाथेय' 'मृण्मयी' 'नोआखाली में' तथा 'दैनिकी' में स्फुट विचार-प्रधान कविताएँ हैं। 'मौर्य-विजय' को छोड़ जो मैथिलीशरण जी के प्रभाव में किया गया कवि का आरम्भिक काव्य-प्रयोग है, इन सभी का प्रधान स्वर करुणा है। यह करुणा 'विषाद' तथा 'आत्मोत्सर्ग' में व्यक्तिगत होने के कारण तथा 'आर्द्रा' की कहानियों में निरावरण होने से अत्यन्त तीव्र हो गई है। उधर 'उन्मुक्त' 'दैनिकी' और 'नोआखाली में' में भी वह युद्ध तथा रक्तपात के वातावरण के कारण सर्वथा व्यक्त है, परन्तु अन्य रचनाओं में भी उसकी अन्तर्धारा उतनी ही असंदिग्ध है। करुणा की इस सर्वव्याप्ति के व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों ही कारण हैं। व्यक्तिगत कारणों में कवि का चिर रुग्ण जीवन, पत्नी तथा अन्य प्रियजनों की मृत्यु, और बहुत कुछ साहित्यिक उपेक्षा भी है। इन तीनों कारणों ने मिलकर उसकी दृष्टि को स्थायी रूप से करुणार्द्र बना दिया है। सब से पहले तो श्वास-रोग ही अपने आप में एक स्थायी व्यथा है, परन्तु रोग की व्यथा को प्रेम—विशेषकर अन्तरंग सहचरी का प्रेम बहुत कुछ हल्का कर देता है। इसी प्रकार मृत्यु, वियोग आदि के शोक को व्यक्ति स्वास्थ्य-सुख के द्वारा भुलाने में सफल हो जाता है। और प्रेम तथा स्वास्थ्य दोनों के अभाव को साहित्यिक आत्माभिव्यक्ति और उसकी स्वीकृति का सुख बहुत कुछ दूर कर सकता है। माना कि स्वीकृति का सुख अपने आप में कोई विशेष स्पृहणीय सुख नहीं है, परन्तु वास्तविकता का निषेध करना व्यर्थ है, लेखक का यह बड़ा सम्बल है, और प्रत्येक देशकाल में लेखक को इसकी आवश्यकता रही है।

इस प्रकार व्यक्तिगत धरातल पर इस कवि ने स्वास्थ्य, दाम्पत्य-प्रेम और लोक-स्वीकृति इन तीनों के अभाव का अनुभव किया। उधर समष्टिगत जीवन में भी वह युग पराजय का युग था। राजनीतिक जीवन में कांग्रेस बार-बार विफल हो रही थी और उधर सामाजिक जीवन पर रूढ़ियों का सर्प इतनी गहरी कुंडली मारे बैठा था कि जागरण-सुधार के सभी आन्दोलन उसको अपने स्थान से हिलाने-डुलाने में असमर्थ हो रहे थे। विषाद के इस सार्वभौम साम्राज्य में सियारामशरण की कविता का विकास हुआ और स्वभावतः उसमें करुण स्वर का प्राधान्य हुआ।

यह करुणा क्रमशः व्यष्टि से समष्टि तक व्यापक होती गई है। 'विषाद' की करुणा का धरातल, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया, शुद्ध व्यक्तिगत है। उसमें स्वर्गगता पत्नी के वियोग में कवि ने अत्यन्त मार्मिक किन्तु संयत कविताएँ लिखी

हैं। मृत्यु के समक्ष मानव कितना असहाय है, उसका प्रेम, उसकी कल्पना, उसका उसका बुद्धि-वैभव सभी कुछ अपने प्रियजन को मृत्यु के पाश से मुक्त कराने में असमर्थ रहते हैं। वह बेचारा स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि की सहायता से भी तो अपने प्रिय को प्राप्त नहीं कर सकता। विकल कवि दिवा-स्वप्न देखता है :

हो सकती भव बीच नहीं क्या कोई नूतन बात ?
आजा आज यहां फिर से तू सस्मित पुलकित गात।
मन्द-मन्द गति से आकर तू आंखें सी दे खोल!
फिर से तेरे मंजु मिलन में उठे हर्ष कल्लोल।
अरे यहां कैसे बैठे तुम, करते हो क्या खूब।
कुछ न सुनूं जा लिपटूं तुझसे हर्षोदधि में डूब।

परन्तु यह सब क्रूर कल्पना है :

हाय, कुहुकमयि क्रूर कल्पना! यह छलना है व्यर्थ।
अश्रु गिराना मात्र रहा है अब तो तेरे अर्थ।
उनमें से भी तुझ तक कोई पहुँच न सकते आह।
जाने कितने गिरि-वन-सागर रोक रहे हैं राह।
[विषाद]

मानव की बेबसी का कितना करुण चित्र है!

जीवन का यह एकाकीपन कठिन रोग की पीड़ा से मिलकर कवि की वैयक्तिक करुणा को और भी गहरा बनाता हुआ, उसके मन में कभी-कभी अत्यंत निराशामय चित्र अंकित कर देता है :

गत निशि में सोचा शैया पर मैंने लेटे लेटे।
इसी निशा में मरण आज यदि आकर मुझको भेंटे।
नहीं रुकेगी तब भी क्षणभर गति संचरित वनप की।
क्या गणना है रत्नाकर में एक बूँद जल कण की।

फिर भी विकल हो उठेंगे सब मेरे स्वजन सुहृज्जन,
बहु अज्ञात गुणों की माला मुझे करेंगे अर्पण।
[दैनिकी]

यह करुणा व्यक्तिगत धरातल से उठकर समष्टिगत धरातल पर पहुँचकर क्रमशः सामाजिक और विश्वजनीन—मानवीय हो जाती है। 'आर्द्रा' की कहानियों में 'एक फूल की चाह,' 'खादी की चादर' आदि में उसका सामाजिक रूप निरावरण होकर सामने आता है। हमारे समाज का अन्तर्मन आर्थिक तथा वर्ण-जाति-गत विषमताओं से पीड़ित है। 'एक फूल की चाह' में अछूत-बालिका सुखिया शीतला की महामारी का शिकार होती है। रुग्णा बालिका के मन में देवी के प्रसाद के एक फूल की चाह उत्पन्न होती है, और उसका पिता बेटी की इस आकांक्षा को पूरी करने के लिए सामाजिक बाधा-व्यवधान की उपेक्षा करता हुआ अपने सदुद्देश्य में विश्वास करके चुपके-चुपके देवी के मन्दिर में जाता है। परन्तु पण्डे लोग उसे पकड़ लेते हैं, उसको खूब मारा-पीटा जाता है और अन्त में न्यायालय उसे एक सप्ताह का दण्ड देता है। इस बीच में सुखिया बेचारी तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देती है, और उसका पिता जब कारावास भोगकर आता है तो ज्ञात होता है कि सुखिया को तो कई दिन पूर्व उसके परिचित बन्धु फूँक चुके थे।

बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर, छाती धधक उठी मेरी,
हाय फूल-सी कोमल बच्ची हुई राख की थी ढेरी!
अंतिम बार गोद में बेटी, तुझ को ले न सका मैं हा!
एक फूल माँ का प्रसाद भी तुझ को दे न सका मैं हा!
वह प्रसाद देकर ही तुझको जेल न जा सकता था क्या?
तनिक ठहर ही सब जन्मों के दंड न पा सकता था क्या?
बेटी की छोटी इच्छा वह कहीं पूर्ण मैं कर देता,
तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का सभी विभव मैं हर लेता?
यहीं चिता पर धर दूँगा मैं कोई अरे, सुनो, वर दो।
मुझको देवी के प्रसाद का एक फूल ही लाकर दो। [आर्द्रा]

कवि सियाराम का हृदय समाज की इस नृशंसता पर चीत्कार कर उठता है और उससे हिंदू-समाज के प्रति एक अत्यन्त तीखा करुण-व्यंग निकल जाता है :

कैदी कहते "अरे मूर्ख, क्यों ममता थी मंदिर पर ही?
पास वहीं मसजिद भी तो थी, दूर न था गिरजाघर भी।"

समाज के धरातल से फिर यह करुणा विश्वजनीन हो जाती है, और कवि के हृदय में केवल अपने परिचित समाज के प्रति ही नहीं वरन् समस्त जगती के प्रति करुणा का उद्भव हो जाता है :

★ ★ हाय री मेरी जगती।
इतनी सुन्दर तदपि घृणित-सी तू क्यों लगती ?

★ ★ ★

तेरे में कुछ नहीं तेज बल ? अयि कल्याणी,
तू क्यों ऐसी दीन हुई क्यों कुंठित वाणी ? [उन्मुक्त]

निष्कर्ष यह है कि इस करुणा का धरातल मूलतः व्यक्तिगत अथवा सामाजिक न होकर मानवीय है। कवि सियाराम के काव्य की करुणा आज की चिर-परिचित भौतिक कुंठाओं की करुणा न रहकर भारतीय अध्यात्म की मानव-करुणा, भगवान् बुद्ध की मैत्री-करुणा बन जाती है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इसका जन्म भौतिक कुंठाओं से ही होता है, परन्तु कवि ने अपनी साधना और तपस्या से उसे परिष्कृत कर शुद्ध मानव-करुणा का रूप दे दिया है। यह तपस्या है आधुनिक मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न––अर्थात् मन को इस प्रकार वश में कर लेना कि वह दुःख में ही रस लेने लगे। वास्तव में मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार आत्म-पीड़न कोई स्पृहणीय वृत्ति नहीं है, परन्तु इसका उचित उपयोग करने से उन्नयन के लिए मार्ग प्रस्तुत हो जाता है। भारतीय साधना-पद्धति में इसका महत्त्व रहा है; पुराचीन सन्तों से लेकर गांधी तक ने इस साधना को अपनाया है।

इस प्रकार सियाराम जी की करुणा स्थूल से सूक्ष्म अर्थात् भौतिक से आध्यात्मिक हो जाती है। स्वभावतः ही इस करुणा में निराशा का अन्धकार अथवा किसी प्रकार की रुग्णता नहीं है, क्योंकि इसका मूल गहरी आस्तिकता में है। जीवन की करुणा से भीगा होने पर भी यह काव्य आशा और विश्वास के अमर सन्देश से मुखर है। व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा सार्वजनिक किसी भी धरातल पर कवि की करुणा श्रद्धा और विश्वास-हीन नहीं होती :

★ ★ ★ आश्वसित, समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ !
देख रहा हूँ, जहां क्रोध कुत्सित पाशव का।

रूप विकट वीभत्स, जहां मूर्छित मानव का।
शतशः खंडीकरण दलन विदलन कर-कर के;
उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।

जीवन में जो घृणा और पाशवता दिखाई देती है, वह जीवन का सत्य नहीं है, वह तो केवल माया है। जीवन का सत्य है— स्नेह; और सत्य की शक्ति माया की शक्ति से कहीं प्रबल है, माया भंगुर है, सत्य चिरंतन। घृणा और द्वेष की विभीषिका कुछ समय तक ही रहती है अन्त में विजय स्नेह की ही होती है। सियारामशरण जी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में इस अमर सत्य की व्यंजना की है :

उस सैनिक का रुधिर वहां वह हृदय-विमोहन
नवजीवन के अरुण राग में परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गई उसी के लिए नमित है
धरणी की वह सुमन मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर-उधर सब ओर। [उन्मुक्त]

घृणा के ऊपर स्नेह की यह विजय स्पष्ट शब्दों में गांधीवाद की घोषणा है; और सियारामशरण जी ने गांधी-दर्शन को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया है। गांधीवाद वास्तव में आध्यात्मिक मानववाद ही है! इसके दो मूल आधार हैं : सत्य और अहिंसा। यह सम्पूर्ण जगत्—चर-अचर—एक सत्य से अनुप्राणित है। यह सत्य अखण्ड और एकरस है। भावना के क्षेत्र में यही भगवान् या राम है। एक सत्य से अनुप्राणित होने के कारण प्राणिमात्र का समान अस्तित्व है। आस्तिक से लिए यही समबुद्धि अनिवार्य है। इस समबुद्धि का व्यक्त रूप है अहिंसा। अहिंसा अभात्मक वृत्ति नहीं है, वह अत्यन्त भावात्मक है, अर्थात् उसका मूल तत्त्व घृणा और द्वेष का निषेध मात्र नहीं है, उसका मूल तत्त्व है प्रेम। घृणा का उत्तर घृणा नहीं है, प्रेम है। हिंसा के विरुद्ध हम हिंसा न करें यह भी पर्याप्त नहीं है, हमें उसका उत्तर प्रेम से देना चाहिये; तभी यह वृत्त पूरा होता है। क्योंकि घृणा या हिंसा का अभाव तो केवल अभावात्मक स्थिति है जो शून्य है; और चिर-तरंगायित मानव-मन शून्य अभावात्मक स्थिति में

रह नहीं सकता। अतएव उसको प्रेम से भरना होगा। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति प्रेम। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर मानव-मानव का भेद—समस्त जाति, वर्ण, गण, राष्ट्र के भेद तो मिट ही जाते हैं, इतर प्राणियों के प्रति भी समभाव उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अहिंसा भाव की प्राप्ति कैसे हो? इसका उपाय है आत्मशुद्धि, और आत्मशुद्धि के लिए तप अर्थात् आत्म-पीड़न और भगवद्भक्ति आवश्यक है। पाप का विनाश तप से हो सकता है। केवल अपने पाप—अपनी घृणा और हिंसा का नाश करना पर्याप्त नहीं है, यह अधूरी साधना है। अहिंसक को तो हिंसा के अस्तित्व मात्र से युद्ध करना है, और इसका भी उसके पास केवल एक ही उपाय है—तप। अपने को तपाकर हम अपनी शुद्धि ही नहीं करते हैं, दूसरे की भी शुद्धि करते हैं; यही गांधी जी का हृदय-परिवर्तन सिद्धान्त है। और, तत्त्वरूप में यही गांधी-दर्शन है। व्यवहार-रूप में इसके अनेक अंग हैं: देश-प्रेम, परसेवा, साम्प्रदायिक एकता, आत्म-निर्भरता [जिसके अंतर्गत मशीन-उद्योग के विरुद्ध ग्राम-उद्योग की प्रतिष्ठा आदि आ जाती है], सदाचार-मय जीवन, आदि। व्यापक रूप में इसके अन्तर्गत विश्वमैत्री की भावना भी अनिवार्यतः गर्भित है, परन्तु गांधी जी ने इसको तूल नहीं दिया।

जैसा मैंने अन्यत्र संकेत किया है, सियारामशरण ने गांधीवाद के तात्त्विक पक्ष को ही अपनाया है, उसके व्यवहार-पक्ष के प्रति उनकी अधिक रुचि नहीं रही, वह उनके अग्रज का क्षेत्र है। इसका कारण दोनों के व्यक्तित्वों का अन्तर है। मैथिलीशरण जी का जीवन विशिष्ट रागद्वेषमय व्यावहारिक जीवन है, सियारामशरण जी का जीवन चिन्तनमय है, और स्पष्ट शब्दों में—मैथिली बाबू में जीवन का प्रबल उपभोग है, सियाराम जी में उसका चिन्तन। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि मैथिली बाबू ने जहाँ गांधीवाद का कर्म-रूप ग्रहण किया है, वहाँ सियाराम जी ने उसका तत्त्व रूप। इसके अतिरिक्त दोनों में एक और अन्तर है; मैथिली बाबू में भक्ति के संस्कार गहरे और अचल हैं, सियारामशरण में संतों का आत्मपीड़नमय तप है। अतएव सियाराम जी गांधीवाद के तात्त्विक रूप को, जो मूलतः संत दर्शन का ही विकास है, सहज ग्रहण कर सके। परन्तु मैथिली बाबू के भक्ति-संस्कार इतने प्रबल और गहन थे कि उनके ऊपर गांधी जी के केवल उन्हीं सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ सका, जिनके साथ कि उनकी संगति बैठती थी। व्यावहारिक दृष्टि से अत्यधिक जागरूक होने के कारण

उन्होंने गांधीवाद के ऐसे सभी तत्वों को अपनी रामभक्ति में समाविष्ट कर लिया है, जिनका उससे मौलिक विरोध नहीं है—गांधी जी के स्वदेश-प्रेम, स्वातन्त्र्य-संघर्ष, जागरण-सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, परसेवा आदि सिद्धान्तों को मैथिली बाबू ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया है, परन्तु सत्य और अहिंसा को उन्होंने रामभक्ति के अनुरूप ढालकर ही स्वीकार किया है। जहाँ गांधी-नीति और रामभक्ति में मौलिक भेद है, वहाँ मैथिली बाबू ने गांधी-नीति को स्वीकार नहीं किया जैसे कि अवतारवाद आदि के सम्बन्ध में। गांधी निर्गुण भक्तों की परम्परा में आते हैं और मैथिली बाबू ने सगुण और साकार उपासना को विधिवत् और पूर्ण निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

सियाराम जी में आस्तिक संस्कार तो अपने अग्रज की भाँति ही वर्तमान हैं परन्तु उनकी आस्तिकता का विकास शास्त्र-धर्म के अनुसार न होकर युग-धर्म के अनुसार हुआ है। उन्होंने गांधी दर्शन को समग्रतः ग्रहण कर लिया है। एकसे संस्कार और वातावरण में पोषित इन गुप्त बन्धुओं के जीवन-दर्शन का यह अन्तर मनोविज्ञान की दृष्टि से सहज ही समझा जा सकता है। सियाराम जी की रुग्णता और उनके जीवन की दुःखद घटनाओं ने आत्मपीड़न के सिद्धान्त को उनके लिए सहज ग्राह्य बना दिया। इसके विपरीत मैथिली बाबू के सहज स्फूर्तिमय व्यावहारिक व्यक्तित्व को वंश-परम्परागत रामभक्ति में पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी। वास्तव में भारतीय चिंता परम्परा में वैष्णव दर्शन पीड़ा का दर्शन है, और शैव-दर्शन आनन्द का। पर वैष्णव-दर्शन में भी निर्गुण और सगुण धाराओं में पीड़ा के अनुपात का अन्तर है। सगुणोपासना में आनन्द का यथेष्ट समावेश है, परन्तु निर्गुण भाव एकांत दुःख की फिलासफ़ी है। गांधीवाद भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है, वह भी पीड़ा का दर्शन है, एक परतन्त्र देश का चिर-पराजय से जिसका जन्म हुआ है। अतएव स्वभावतः ही यह मैथिली बाबू की अपेक्षा सियाराम जी के व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल पड़ा और इसके द्वारा उन्हें अपनी व्यक्तिगत पीड़ा के उन्नयन का अवसर मिल सका।

गांधी-दर्शन वास्तव में सियारामशरण की रचनाओं में ओतप्रोत है। उनमें स्थान-स्थान पर गांधी जी की वाणी का काव्यानुवाद मिलता है :

नहीं कहीं कुछ भेद, एक ही इन्द्र-धनुष में
भासित वे बहु वर्ण, वर्ण ये पुरुष-पुरुष में
बाहर के आभास, एकता ही अन्तर्गत।

यह एकता सबमें अनुस्यूत अखंड सत्य की एकता है। इसी एक सत्य से अनुप्रेरित होने के कारण मानव स्वभावतः अकलुष है, सारा कलुष परिस्थिति-जन्य आवरण मात्र है, जिसके हट जाने से मनुष्य का शुद्ध-बुद्ध मानव फिर अपने मूल रूप में आ जाता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, वह था मानव;
ऐसा मानव, लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल।

अतएव पाप वास्तव में एक प्रकार की भ्रांति ही है; इसलिये पापी क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है :

— —

आत्म - विस्मृति ने छाकर।
उसका बोध विलोप कर दिया था मैं उस पर
रोष करूं या दया ?

क्योंकि रोष तो स्वयं हिंसा है, और हिंसा से हिंसा की शुद्धि कैसे हो सकती है। हिंसा की शुद्धि के लिये तो अहिंसा अपेक्षित है, यही जीवन का चिर-सत्य है :

हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

[उन्मुक्त]

यह गांधी जी के सूत्रों का अविकल अनुवाद है। इतना ही नहीं उनके सभी कथा-काव्यों का ध्वन्यार्थ भी यही है। 'आत्मोत्सर्ग' 'उन्मुक्त' और 'नोआखाली में' तो प्रत्यक्ष रूप से गांधीवाद के सिद्धान्तों की स्थापना करते ही हैं, उनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियों और 'नकुल' में भी गांधी-दर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदि की विचारात्मक स्फुट कविताओं में है। वास्तव में हिन्दी में गांधी-दर्शन की इतनी सहज स्वीकृति किसी भी लेखक में नहीं है। यों तो गांधी-दर्शन का प्रभाव इस युग में एक सर्व-व्यापी प्रभाव है, हिन्दी का कदाचित् ही कोई कवि या लेखक इससे अछूता रहा

हो—यह वास्तव में हमारा युग-दर्शन है । अनेक में गांधीवाद का प्रचारघोष भी आवश्यकता से अधिक मिलता है, परन्तु हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं जिन्होंने गांधी-दर्शन को गम्भीरता पूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकांत बौद्धिक है, उनकी आत्मा गाँधी-दर्शन के शम सात्त्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है । पंत जी को गांधी-दर्शन की शांति परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, किन्तु वे कदाचित उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है। परन्तु सियारामशरण ने हृदय और बुद्धि दोनों का गांधी-दर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य कर लिया है, वह उनकी आत्मा में रम गया है।

इस प्रकार के तपःपूत और साधनामय जीवन की अभिव्यक्ति निसर्गतः ही अत्यन्त सात्त्विक एवं शान्तिमय होनी चाहिये। और, इस दृष्टि से सियारामशरण जी की कविताओं का सबसे पृथक एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के एक लेखक ने सियारामशरण के निबन्धों के प्रभाव के विषय में लिखा है कि इनका प्रभाव मन पर ऐसा पड़ता है जैसा निभृत मन्दिर में मन्द-मन्द जलते हुए घृतदीप का। यह उक्ति वास्तव में सियारामशरण के समस्त साहित्य पर ही, विशेषकर उनके काव्य पर, पूर्णतः घटित होती है। उनके काव्य को पढ़कर मन आत्मद्रव से भीगकर एक स्निग्ध शांति का अनुभव करता है। इस काव्य में उत्तेजना का एकांत अभाव है। वह न भावों को उत्तेजित करता है और न विचारों को। भयंकर संघर्ष और उथल-पुथल के इस युग में जबकि सर्वत्र ही मूल्यों का कुहराम मचा हुआ है, उत्तेजना का यह शमन अद्भुत सफलता है। वास्तव में आज के जीवन में उत्तेजना सत्य है और शांति कल्पना। आज का कवि हृदय को ही नहीं विचारों को भी झकझोर कर पाठक के मन को प्रभावित करता है, उसका संवेद्य ही यह उत्तेजना है। मूल्यों को अस्त-व्यस्त करता हुआ मान्यताओं को चुनौती देता हुआ, विचारों को झकझोरे देकर [और उनके द्वारा हृदय में भी उथल-पुथल मचती ही है] वह पाठक के साथ बौद्धिक तादात्म्य स्थापित करता है। सियारामशरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरचित नहीं हैं, उनके खण्ड-काव्यों और स्फुट मुक्तकों में इसकी स्थिति सर्वत्र है, परन्तु स्वीकृति कहीं भी नहीं है। युग के तूफान और आंधी के बीच उनका वह मन्दिर-दीप जिसमें विश्वास अर्थात् सत्य की अग्नि शिखा है और स्नेह अर्थात् अहिंसा का घृत है, नीरव निष्कम्प जलता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सियारामशरण की कविता बौद्धिक उत्तेजना से मुक्त आस्तिक विश्वास से प्रेरणा प्राप्त करती है

और उनका यह विश्वास एकांत मानवीय मूल्यों पर, सत्य और अहिंसा पर आधृत होने के कारण शांत और नीरव है, दूसरे पर छा जाने वाला नहीं है। इसलिए इस कविता में एक अपूर्व शांति और सात्विकता मिलती है।

इस शांति और सात्विकता का दूसरा रहस्य यह है कि इस कवि की चेतना वासना और ऐन्द्रियता से बहुत कुछ मुक्त है। निरन्तर साधना-संयम से उसने वासना को अत्यन्त परिष्कृत कर लिया है। फलतः उसमें एक ओर क्रोध घृणा आदि द्वेष-जन्य मनोवेगों का परिमार्जन हो गया है, दूसरी ओर राग का उन्नयन। सियाराम जी जैसे व्यक्ति के लिए साधारणतः मनोग्रन्थियों और काम-कुंठाओं का शिकार हो जाना स्वाभाविक था, परन्तु उनके आस्तिक संस्कार और निष्ठा ने उनकी रक्षा की है और इतना बल प्रदान किया है कि वे अपनी कुंठाओं पर विजय प्राप्त कर सकें। वास्तव में मनोविश्लेषकों ने कुंठा के पोषण के लिए जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है वे सभी सियारामशरण जी के जीवन में उपस्थित रही हैं, उदाहरण के लिए काम की अभिव्यक्ति के साधन का अभाव, कठोर नैतिक वातावरण एवं धार्मिक रूढ़िग्रस्त जीवन, तथा अस्वस्थ शरीर। परन्तु इस व्यक्ति ने अपनी साधना से जीवन के विष को अमृत कर लिया है। और मैं समझता हूँ इसका श्रेय बहुत कुछ अंशों में आस्तिक संस्कार और पारिवारिक स्नेह को भी देना पड़ेगा।

तीसरा कारण इस सात्विक शांति का यह है कि सियारामशरण जी ने अपने अहंकार को पूर्णतः पीड़ा में घुला दिया है। भयंकर अहम्‌वाद के इस युग में अहंकार का यह उत्सर्ग एक आध्यात्मिक सफलता है, और जैनेन्द्र जी के अनुसार साहित्य का चरम श्रेय यही है। साहित्य का चरम श्रेय यह हो अथवा न हो परन्तु जीवन और साहित्य की यह एक पुण्य साधना अवश्य है, जिससे चेतना शांतिमय और निर्मल होती है और इस प्रकार जिस साहित्य की सृष्टि होती है वह निस्संदेह सात्विक और पुण्य-पूत होता है। पीड़ा के दर्शन को हृदय से स्वीकार करने वाले के लिए वास्तव में अहंकार का विलयन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि पीड़ा व्यक्तित्व को द्रवीभूत करती है, अहंकार उसे पुंजीभूत करता है। दैहिक और दैविक कष्टों के कारण और परिवार में छोटे होने के कारण सियारामशरण आत्मनिषेध के अभ्यस्त होते गये और उधर अपने आस्तिक संस्कारों द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक विकृतियों को बचाते हुए उसे उदात्त रूप देते गये। परिणाम-स्वरूप विनय (अहंकार का अभाव) उनकी चेतना का अंग बन गयी और व्यक्तिगत पीड़ा का मानव-पीड़ा के साथ तादात्म्य होता गया;

जिसमें रजस् और तमस् बहुत कुछ घुलकर नष्ट हो गया और सत् का प्राधान्य हो गया। सात्विकता की दृष्टि से वास्तव में सियारामशरण का काव्य आधुनिक हिन्दी-काव्य में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। ऐसी सात्विकता और शांति प्राप्त करने के लिए हमें महादेवी की कतिपय कविताओं को पार करते हुए बहुत दूर मध्ययुग के भक्तों के आत्मनिवेदन तक जाना होगा। परन्तु उस काव्य की और सियारामशरण के काव्य की आत्मा में भेद है। सियारामशरण भक्त नहीं हैं, भक्त की एकनिष्ठता उनमें नहीं है, उन्होंने अपनी रति को केन्द्रित करने की जगह वितरित किया है। उनमें श्रद्धा है, ममता है, किन्तु एकनिष्ठ रति नहीं है।

यह अभाव सियारामशरण की कविता के सबसे बड़े अभाव के लिए उत्तरदायी है, और वह यह है कि उन्होंने भुक्ति को बचाकर मुक्ति की साधना की है। इसलिये उनके काव्य में जीवन का स्वाद कम है। नाना-रसमयी सृष्टि में उनका घनिष्ठ परिचय करुण और शांत से ही है, करुण माध्यम है और शांत परिणति। शृंगार, वीर आदि भावात्मक रसों का उन्होंने बड़े सन्देह के साथ डरते डरते स्पर्श किया है। नारी की ओर दृष्टि डालने से पूर्व यह सत्पुरुष अपनी आंखों को मानो गंगाजल से आंज लेता है। यों तो इनके काव्यों में नारी के विविध रूपों का वर्णन है .नारी के माता, बहन, पुत्री; पत्नी और प्रेयसी सभी रूप मिलते हैं, परन्तु कहीं भी वे रति की आलम्बन प्रकृत नारी के रूप तथा मन का उद्घाटन नहीं कर सके हैं। नारी के लिए उनके मन में श्रद्धा और संकोच-मिश्रित स्निग्धता भर है। जहां कहीं शृंगार का प्रसंग आता है सियारामशरण जी के ये दोनों भाव उस पर आश्लिष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के लिए

> **करती थी वह वहां अकेली स्नान-विमज्जन ?**
> **अंजलि से जल वक्ष बाहु कच भिगो-भिगोकर,**
> **जलधारा में पसर गई वह लम्बी होकर।**
> **सैकत में फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,**
> **ऊपर समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज। [नकुल]**

रूप-वर्णन कितना फीका है। इसको पढ़कर स्पष्ट ही यह धारणा होती है कि या तो कवि के पास रमणी के इस रूप का पान करने वाली दृष्टि नहीं है, या फिर उसने साहस के अभाव के कारण अपनी आँखें दूसरी ओर मोड़ ली हैं। वास्तव में यही हुआ है। कवि सचमुच सहमकर आकाश की ओर देखने लगा है :

इसी समय सामने क्षितिज में अरुण सेज पर,
उठा बाल-रवि गगन धरा का अनुरंजन कर।

रमणी की ओर दृष्टि उसने अपने श्रद्धा-भाव को आहूत करने के उपराँत ही डाली है :

अर्द्धोत्थित से हुआ न जब तक पूर्णोत्थित वह,
बनी रही साष्टांग नमन-मुद्रा में स्थित वह।

इस प्रसंग में, अन्तर को स्पष्ट करने के लिए आपको प्राचीनों में विद्यापति का और नवीनों में प्रसाद का स्मरण मात्र करा देना पर्याप्त होगा। इसमें संदेह नहीं कि विवेक-बल के द्वारा सियारामशरण जी ने भी एकाध स्थान पर संकोच का परित्याग कर प्रकृत चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है परन्तु अब उसके लिए बहुत विलम्ब हो गया है, और इन अभिव्यक्तियों में ऊष्मा की कमी है :

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोड़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थ ने उसकी मोड़ी,
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगाई,
अमृत पिलाकर विरह-काल की भीति भगाई,

[नकुल]

यह चित्र बिल्कुल ठंडा है। सारी क्रिया यन्त्रवत् है। तुलना कीजिये :

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे,
पागल प्राण धधक उठता है तृषा-तृप्ति के मिस से।

और, श्रद्धेय सियारामशरण जी क्षमा करें, यह प्रक्रिया भी गलत है।

इसमें संदेह नहीं कि नारी के माता, बहन, मित्र आदि अनेक रूप हैं, और उसे सदा बुभुक्षित नेत्रों से देखना अत्यन्त अस्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, परन्तु उसका एक प्रकृत नारी-रूप भी है जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है, जो स्वयं उपभोग्य बनकर भी तृप्त पाती है। स्वयं सियारामशरण के ही काव्य में एक स्थान पर प्रकृत नारी यही पुकार उठी है:

आकर सहसा किसी भ्रांति की संचारी में,
देवी का आरोप करेंगे यदि नारी में,
तो कैसे वह सहन कर सकेगी उस क्षण को,
जब कल छलना-रहित समय कर देता मन को,

[नकुल]

, नैतिक आदर्श आदि के आतंक से इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नहीं है। उसका अभाव जीवन की अपूर्णता का द्योतक है।

शृंगार के अतिरिक्त उनमें जीवन और काव्य को समृद्ध करनेवाली व्यक्तित्व की अन्य प्रकृत अभिव्यक्तियों की भी परिक्षीणता है। उन्होंने आत्मपीड़न के द्वारा अपने अहं को धुलाकर इतना निर्मल करने का प्रयत्न किया है कि उसके रंग धुल गये हैं, और उनकी जीवन-दृष्टि आवश्यकता से अधिक निर्वैयक्तिक एवं एकांगी-सी हो गई है। अहं का संस्कार करते-करते वे उसकी प्राकृतिक-शक्ति को खो बैठे हैं - अतिशय परिष्कार से वस्तु की प्रकृत शक्ति नष्ट हो जाती है, यह प्रकृति का नियम है। अहं के सत्-असत् दोनों रूपों की जीवन में सार्थकता है! स्नेह, करुणा, श्रद्धा, शांति, विनय, संयम, अहिंसा आदि तो जीवन के आभूषण हैं ही, परन्तु घृणा, कठोरता, दर्प, अहंकार, वासना आदि की भी सार्थकता में संदेह नहीं किया जा सकता। घृणा में असमर्थ व्यक्ति का स्नेह फीका होता है। जो व्यक्ति कठोर नहीं हो सकता उसकी करुणा असहाय होती है। दर्पहीन की श्रद्धा दुर्बल होती है और विनय क्लीव। इसी प्रकार अहिंसा को भी हिंसावृत्ति के अनुपात से ही तेज प्राप्त होता है। जीवन का यह समग्र-ग्रहण सियारामशरण जी में नहीं है, यह उनके अग्रज में है। सियारामशरण की कविता में अमृत है, पर मनुष्य को रस चाहिये—वह तो रस पर जीता है। सियारामशरण जी की चेतना का मूल गुण है-उसकी संवेदनशीलता। पीड़ा को जीवन-दर्शन मानने वाला व्यक्ति निश्चय ही अतिशय संवेदनशील होगा। संवेदशीनलता के कारण उनकी काव्यचेतना अत्यन्त सूक्ष्म है, उसमें गहराई भी कम नहीं है। परन्तु जीवन के उपभोग के अभाव में उसमें समृद्धि का अभाव है और उधर जीवन का समग्र-ग्रहण न होने के कारण उसमें व्यापकता तथा विराटता का भी अभाव है।

कलाशिल्प—उपर्युक्त विश्लेषण की भूमिका में अब मैं यदि यह कहूँ कि सियारामशरण जी अपने कला-शिल्प के प्रति अत्यंत जागरूक हैं तो वह असंगति-सी प्रतीत होगी। जिस व्यक्ति के काव्य में इतनी सात्विकता और शांति है, जिसने आत्म-शुद्धि पर इतना बल दिया है, वह कला-शिल्प के प्रति जागरूक क्यों होगा? परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है; उपर्युक्त गुणों का कला-शिल्प से कोई विरोध नहीं है; कला-शिल्प से विरोध बहिर्मुखी प्रवृत्ति अथवा अतिशय प्रबल आत्माभिव्यक्ति का तो माना जा सकता है। जिस व्यक्ति को अनुभूति की

प्रबल प्रेरणा के कारण चिंतन का अवकाश ही न हो वह तो कला के प्रति उदासीन होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाहर की ओर ही अधिक देखता है, वह भी कला-दृष्टि खो बैठता है। कला के लिए अंतर्मुखी वृत्ति आवश्यक है, जिसके दो प्रमुख रूप हैं—चिन्तन और कल्पना। और सियारामशरण में इन दोनों का विशेषकर चिंतन का प्राचुर्य्य है। चिंतन एक प्रकार से उनके काव्य का सामान्य गुण है। निदान उनकी काव्य-चेतना से कला-शिल्प का कोई विरोध नहीं है। हां, यह असंदिग्ध है कि इस कला का स्वरूप उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है।

इस दृष्टि से सियारामशरण की कला की एक प्रत्यक्ष विशिष्टता यह है कि वह गीतिमय न होकर चिंतनमय है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति नहीं मिलती। वे प्रायः एक विचार को लेकर उसके परिवहन के लिए एक छोटी-सी लघु-कथा (फ़ेबिल) का निर्माण करते हैं और उसीके माध्यम से अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते हैं। यह उनकी प्रिय शैली है और एक प्रकार से अब उनके लिए स्वाभाविक सी हो गई है। वे कहते नहीं है, संकेत करते हैं। व्यंग्य उनका सब से प्रबल शस्त्र है और कहीं-कहीं वह बड़ा मार्मिक और तीखा हो जाता है।

दूसरे यह कला समृद्ध न होकर स्वच्छ है। इसमें रूपरंग का विलास, औज्ज्वल्य अथवा मीनाकारी नहीं है। इसमें एक निरन्तर स्वच्छता है जिसका मूल आधार है समन्विति। कवि की कल्पना और भाव-कोष पर चिन्तन का स्थिर नियमन है, अतएव प्राचुर्य्य-जन्य शैथिल्य और सूत्राभाव उसमें कहीं भी नहीं मिलता। उसकी अभिव्यक्ति सदैव सार्थक एवं अन्वित होती है। उसके चित्र कहीं भी असम्बद्ध एवं स्वतंत्र नहीं हो पाते। मूल विचार की एकसूत्रता उनमें सदैव रहती है। राग, कल्पना तथा विचार का पूर्ण सामंजस्य उनमें सवत्र मिलता है। इसलिये एक भाषा-मर्मज्ञ ने सियारामशरणकी प्रशंसा में लिखा है कि उनकी काव्य-भाषा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से गद्य-भाषा के अधिक-से-अधिक निकट आजाती है। अन्वय किये बिना ही प्रायः उसका गद्यान्तर किया जा सकता है। यह वाग्धारा की स्वच्छता और स्फीति का ही द्योतक है। अन्यथा उनकी भाषा गद्यवत् नहीं है। उसका काव्योचित अर्थ-गांभीर्य्य और प्रौढ़ता अद्भुत है। और संतोष की बात यह है कि यह प्रौढ़ता निरन्तर बढ़ती जाती है। 'नकुल' से कुछ उदाहरणदेता हूँ :

१. थमा दिव्य संगीत मुखरता खोई दिव की,
चढ़-सी गई समाधि समय के सुन्दर शिव की।

२. किस पामर ने किया नखांकित दारुण दुखकर,
संशय का यह घाव आर्य-वाणी के मुख पर।

३. धरा वहाँ उठ गई स्कन्ध तक मानों दिव के,
तपोरता पार्वती अंकगत हो ज्यों शिव के।

ये केवल उदाहरण मात्र हैं। वैसे अब सियारामशरण की अभिव्यक्ति का साधारण स्तर ही यह हो गया है। उनके नवीन काव्यों में प्रत्यक्ष इतिवृत्त वर्णन का एक प्रकार से अभाव होता जा रहा है। उनकी अभिव्यक्ति अब ऋजु-सरल न रहकर उत्तरोत्तर वक्र होती जा रही है।

इस प्रकार कवि सियारामशरण के काव्य में संस्कार और साधना का साधु समन्वय है। वे उन कवियों में से हैं, जिन्होंने सच्चे अर्थ में काव्य की साधना की है। वे लोकप्रिय नहीं रहे और हो भी नहीं सकते; क्योंकि वे प्रेय को छोड़कर श्रेय की साधना में रत हैं।



कवि श्री सियारामशरण गुप्त

[श्री रामाधारीसिंह 'दिनकर']

अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुजफ्फरपुर (१९२८) में हिन्दी-कविता के पुराने और नये स्कूलों के प्रतिनिधियों के बीच का संघर्ष बहुत ही मुखर हो उठा। उस साल, मंगलाप्रसाद-पारितोषिक साहित्य-विषय पर दिया जानेवाला था, किन्तु, वह पुरस्कार 'पल्लव' पर नहीं दिया जाकर, श्री वियोगीहरिजी की 'वीर-सतसई' पर दिया गया। इसके सिवा सम्मेलन के सभापति, पं० पद्मसिंह शर्मा जी ने अपने अभिभाषण में छायावाद की बड़ी ही कटु आलोचना भी की थी और व्यंग्यपूर्वक 'पल्लव' को काँटा कह डाला था। नवयुवक साहित्यकार इस बात से बहुत ही क्षुब्ध थे और इस क्षोभ की अभिव्यक्ति सम्मेलन के अवसर पर होनेवाली सभी साहित्यिक समितियों और बैठकों में होती रही। सम्मेलन के दूसरे दिन मुज़फ्फ़रपुर साहित्य-संघ (यह संस्था अब जीवित नहीं है) के उत्सव में सभापति के पद से बोलते हुए श्री हरिऔध जी ने आवेश के साथ कहा कि "मुझे तो श्री मैथिलीशरण जी की अपेक्षा श्री सियारामशरण की ही कविताएँ अधिक पसन्द आती हैं।" सभी युवकों ने तुमुल करतलध्वनि के साथ इस घोषणा का स्वागत किया, किन्तु, मेरे हाथ नहीं बज सके। मैं विचारता रह गया कि क्या सचमुच ही, 'मौर्य-विजय' का रचयिता, 'जयद्रथ-वध' के रचयिता से श्रेष्ठ है।

श्री सियारामशरण जी को श्री मैथिलीशरण जी से श्रेष्ठ मैं अब भी नहीं मानता। दोनों भाइयों की मनोदशा एक ही नहीं होते हुए भी, प्रायः मिलती-जुलती-सी है और समधिक दूरी तक दोनों में ही प्राचीन संस्कारों के प्रति एक प्रकार की अनुरक्ति है। किन्तु उम्र में छोटे होने के कारण अथवा अन्य प्रभावों से श्री सियारामशरण जी नवीनता की ओर अधिक उन्मुख हैं। उनकी विषय

को ग्रहण करने की प्रणाली मैथिलीशरण जी की अपेक्षा अधिक नवीन है तथा, यद्यपि, छायावाद की अभिव्यंजक शक्तियों का विकास उनमें भी पूर्ण रूप से नहीं हो सका, तथापि वह अपने अग्रज की अपेक्षा छायावाद के अधिक समीप और उसके अधिक अपने कवि रहे। छायावाद की दुनिया में मैथिलीशरण जी अपनी सामर्थ्य के बल पर आये थे, किन्तु, सियारामशरण जी को उस दुनिया की किरणों ने अपनी ओर खींचा। यों भी कह सकते हैं कि छायावाद के बाज़ार से अपनी पसन्द की तूलिका और रंग ख़रीदकर मैथिलीशरण जी अपने देश को लौट गये, किन्तु, सियारामशरण जी ने उस बाज़ार में आकर डेरा ही डाल दिया। डेरा ही डाल दिया, यानी स्थायी निवास के उद्देश्य से यहाँ अपना घर नहीं बनाया, क्योंकि, तब अपने असली घर का मोह उन्हें छोड़ देना पड़ता और 'दूर्वादल', 'पाथेय', 'मृण्मयी' एवं 'आर्द्रा' की रचना बँटी हुई मनोदशाओं से ऊपर उठकर एकमात्र रोमांस की समाधि में करनी पड़ती।

सियारामशरण जी की कविताओं के पीछे हम एक ऐसी मनोदशा को विद्यमान पाते हैं, जो प्राचीन और नवीन, दोनों ही, दिशाओं की ओर बँटी हुई है। शैली से वह रोमांसप्रिय और विचारों से शास्त्रीय हैं। किन्तु, शैली उनके विचारों को प्रेरित नहीं करती। भाव उनके इतिहास से आते हैं और शैली वह नये युग से लेते हैं। यह भी ठीक नहीं है कि उनके सभी भाव उनकी अनुभूतियों में गलकर नवीन बन जाते हैं, किन्तु, इस क्रम में उनका एक-तिहाई अंश प्राचीन ही रह जाता है। उनके साथ एक और कठिनाई है। प्राचीन भाव और नई शैली जब आपस में मिलने लगती हैं, तब उनमें से प्रत्येक को अपनी मूल-शक्ति का कुछ-न-कुछ अंश बलिदान करना पड़ता है। इस प्रकार उनके शास्त्रीय भावों की अपनी परम्परागत प्रबलता घट जाती है और नवीन शैली को भी अपनी स्वाभाविक विशिष्टताओं में से कुछ का त्याग करना पड़ता है। 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की कविताओं में रोमांसवाद की चमत्कारपूर्ण शैली अपने तेज के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है, किन्तु, स्पष्ट ही, गम्भीर शास्त्रीय भावों को सफलतापूर्वक वहन करने के लिए उसे अपनी सूक्ष्मता को छोड़ देना पड़ा है और गद्य के उतना समीप आ जाना पड़ा है जितना समीप उसे, साधारणतः, नहीं आना चाहिए था। यह कवि की असमर्थता का परिणाम नहीं है, प्रत्युत्, जब कभी लिरिक-कविता की शैली, प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य या किसी प्रकार की नीति-व्यंजना के लिए प्रयुक्त की जायगी, तभी उसे सूक्ष्म की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल हो जाना पड़ेगा।

भद्र यह विधि का विधान है,
देव हो कि दानव हो,
ऋषि, मुनि और महामानव हो,
सीमित सभी का यहाँ ज्ञान है।
विधि के विधान से ही वर्षण-अवर्षण का,
एक-एक क्षण का,
निश्चित है योगायोग,
भोग्य है सभी के लिए भोगाभोग। [मंजुघोष]

यह टुकड़ा उस शैली का अत्यन्त रोचक उदाहरण है जो श्री सियाराम-शरण जी में शास्त्रीय भाव और नवीन व्यंजना-प्रणाली के योग से विकसित हुई है। पूरे पद में प्रवाह की गम्भीरता और भावों की टुकड़ियों की समाप्ति पर आनेवाले लय के विराम इसे मैथिलीशरण जी की किसी भी कविता से एकदम विभाजित कर देते हैं। यह कविता आज से दस वर्ष पूर्व की रचना है जब छायावाद हिन्दी में अपना पूरा काम कर चुका था और, स्वभावतः ही, जब श्री सियारामशरण जी उससे वे सभी प्रभाव ग्रहण कर चुके थे जो उनकी रुचि के अनुकूल पड़ते थे। लेकिन, सब कुछ होते हुए भी इसके भीतर से चमकनेवाला भाव प्राचीन मालूम पड़ता है। यह शास्त्रीय पद्धति के विचारक की मनोदशा है जो छायावाद के भीतर से अपनी समस्त ज्ञानगरिमा के साथ चमक रही है। यह उस कवि की वाणी है जो अपने प्राचीन संस्कारों का उज्ज्वल गीत अभिव्यंजना के नवीन सुरों में गा रही है। मैथिलीशरण जी ने छायावाद से सिर्फ़ तूलिका और रंग लिये थे; कैनवास और स्वप्न, दोनों ही उनके अपने थे। सियारामशरण जी ने स्वप्न छोड़कर और समस्त उपकरण छायावाद से ही लिये हैं। 'मौर्य-विजय' के समय उन्होंने जिस कैनवास का उपयोग किया था वह अब उनके पास नहीं है; छायावाद के भण्डार से उन्होंने अपनी पसन्द का एक नया कैनवास उठा लिया है जो अन्य छायावादी कवियों की चित्रपट की तरह कोमल तो नहीं है, किन्तु, चित्र, शायद उस पर बुरे नहीं उठते हैं।

सियारामशरण जी में कला की आराधना कम, विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हें इसलिए नहीं होती कि वह सुन्दर सुरों में गाते हैं, प्रत्युत् इसलिए कि उनका गान सारसंयुत है। हिन्दी-संसार में उन्हें जो सुयश

मिला है वह भी कलानिर्माण के लिए नहीं, प्रत्युत् विचारों की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता के कारण ही। रसिक कवि की सौन्दर्य-प्रियता एवं प्रेम तथा आसक्ति के भाव उनमें कहीं भी प्रकट नहीं हुए हैं। उनकी कविताओं में से रंगीनियों की एक पूरी दुनिया ही ग़ायब है। बल्कि इस दृष्टि से श्री मैथिलीशरण जी कहीं अधिक सरस हैं जिन्होंने 'पञ्चवटी' 'द्वापर' और 'साकेत' में स्थान-स्थान पर शृंगार की छोटी-मोटी अनेक धाराएँ बहायी हैं जो पवित्र होने के साथ सुन्दर और सरस भी हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सियारामशरण जी एकरस अथवा सङ्कीर्ण हैं। एक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है। हिन्दी के वर्तमान कवियों में इस सिद्धान्त के वह सबसे बड़े अपवाद हैं। रस का अभाव उनमें भले ही हो, किन्तु विचारों का उनमें एकदम अभाव नहीं है। उनकी कविताओं के भीतर से एक ऐसे चिन्तक का व्यक्तित्व झलकता है जो सदैव नए-नए भावों का शोध कर रहा हो। उनकी प्रत्येक कविता भाव-प्रधान है और उनके भाव भी विविध एवं विशाल हैं। वे अपने समय के अत्यन्त सम-कवि भी हैं; उनकी कविताओं का धरातल ऊपर नीचे नहीं होता, ऐसा नहीं है कि उनकी एक रचना बहुत छिछली और दूसरी अत्यधिक गम्भीर हो। जिस स्तर पर वह काम करते हैं उसके नीचे विचारों के सुदृढ़ खंभे लगे हुए हैं जो ज़्यादा हिलते-डुलते नहीं।

सियारामशरण जी संयमशील कवि हैं। यह सत्य है कि संयम में शक्ति होती है और उससे मनुष्य का रूप गम्भीर हो जाता है। किन्तु, गम्भीर पुरुष से सभी लोग आत्मीयता स्थापित नहीं कर सकते। नेता बहुत-कुछ तिलक और पटेल के समान होना चाहिए, किन्तु कवि और कलाकार के लिए जवाहरलाल का मुक्त स्वभाव ही उपयुक्त है। यह सच है कि संयम से कवि की शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु उस संयम से जी घबराता है जो रस को मुक्त होकर चलने नहीं देता। मैं बार-बार अचरज करता हूँ कि सियारामशरण जी में 'निर्झरेर स्वप्न-भंग', 'रात्रे ओ प्रभाते' अथवा 'पन्त' जी के 'परिवर्तन' की मनोदशा कहीं भी क्यों नहीं मिलती है। समधिक भाग में भावों के इस व्याकुल प्रवाह, संयम के इस स्रस्त-वेग का उदाहरण प्रायः सभी कवियों में मिलता है। फिर सियाराम-शरण जी में ही यह अनुपस्थित क्यों है?

इसका उत्तर 'दूर्वा-दल', 'आर्द्रा' 'मृण्मयी' और 'पाथेय' की अधिकांश कविताओं में व्याप्त है। कुछ कविताओं को छोड़कर सियारायशरण जी सर्वत्र ही सोद्देश्य हैं जो किसी कलाकार के लिए सदैव अपमान की बात नहीं कही

जा सकती और सियारामशरण जी की सोद्देश्यता तो बिलकुल ही चिन्तन के आवरण में प्रच्छन्न है, इसलिए उसे हम किसी भी प्रकार प्रचार का पर्याय नहीं मान सकते। वे काव्य की भूमि में विचारक की भाँति गम्भीरता और सहज विनय के साथ उतरते हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का सत्यान्वेषी पुरुषों की भाँति विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द उनका उद्देश्य नहीं है। वह इससे कुछ अधिक ठीक लक्ष्य की तलाश में हैं। जीवन की छोटी बातों में भी उन्हें किसी महान् सत्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है। उनकी घड़ी जब चलते-चलते बन्द हो जाती है तब अनायास ही उनमें महान् काल की आकस्मिक स्थिरता की कल्पना जग पड़ती है, मानों यह एक अपूर्व सुयोग आ गया हो। मानों 'अकाल काल' उन्हें छूने के लिए 'एक क्षण' को रुक गया हो (एक क्षण)। बरात के कोलाहल, हलचल और थकावट के बाद अगर उन्हें बैलगाड़ी में कहीं नींद आ जाती है तो वह सोचने लगते हैं :

> **भय की नहीं है बात, आज यदि उर में अशांति है,**
> **सुन तू अरे मेरे मन, तेरी शान्ति-लक्ष्मी शांति लायगी,**
> **कोई विघ्न-बाधा रोक उसको न पायगी।** [शांति-लक्ष्मी]

वे प्रधानतः नीति-व्यंजक कवि हैं, किन्तु यह नीति उनकी चिन्ता की धारा से सहज रूप से प्रस्फुटित होती है। वृन्द या गिरिधर की तरह उन्हें इसके लिए तैयारी नहीं करनी पड़ती। और जब यह नीति-व्यंजना सुविकसित वक्रोक्ति के माध्यम से होने लगती है तब उसमें काव्यानन्द भी खूब ही उमड़ता है। उनकी चिन्ता की दिशा सहज ही गम्भीर है, अतएव उनके लिए यह कभी भी सम्भव नहीं है कि केवल आनन्द की खोज में वे रंगीनियों के लोक में उड़ने का साहस करें।

संयम, शील और रहस्यान्वेषण की वृत्ति से रहस्यवादियों का संसार बहुत अधिक दूर नहीं है। ऐसी वृत्तिवाला मनुष्य जभी प्रेमविभोर होकर परम सत्ता की ओर उन्मुख होगा, तभी वह उस लोक में जा पहुँचेगा जहाँ की वाणी समर्थ होने पर धुँधली कविता और असमर्थ होने पर दर्शन का सूत्र बन जाती है। सियारामशरण जी उड़कर तो नहीं, हाँ रास्ता भूलकर कभी-कभी इस लोक में पहुँच जाते हैं, किन्तु प्रेम के उन्माद से अनभ्यस्त रहने के कारण वे वहाँ का पूरा आनन्द नहीं उठा सकते। वे व्यक्तिवादी होने से डरते हैं और इसीलिए रहस्य-लोक में भी आत्म-विस्मृति से बचने के लिए सदैव सतर्क रहते हैं। उनमें प्रेम तो

नहीं, हाँ श्रद्धा का निवास है। किन्तु विचार के प्रहरी श्रद्धा के साथ अन्याय करते हैं, उसे उठकर घूमने-फिरने नहीं देते। इसीलिए उनका रहस्यवाद भक्त की आत्म-विस्मृति न होकर रहस्य के लोक में ज्ञानी का जागरण हो जाता है। उनकी 'आहा, यह आलोक उदार' अथवा 'धन्य, आज का यह खग्रास' या 'तेरी क्षणप्रभा में ही मैं पुलक तुझे पहचान गया' आदि पंक्तियों और कविताओं में यही मनोदशा व्यंजित हुई है। 'प्रियतम, कब आयेंगे कब···' जैसी दो-एक कविताओं में श्रद्धा ने अपना स्वर ऊँचा करना अवश्य चाहा है, किन्तु ऐसी कविताएँ बहुत थोड़ी हैं और मिला-जुलाकर यही निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि सियारामशरण जी में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का ही अधिक प्राधान्य है और इसी के बल पर वह काव्य से लेकर अध्यात्म की भूमि तक सचेष्ट होकर विचरण करते हैं।

कला में सतर्कता, शून्य में पंख खोलने से डरने की वृत्ति, निरे आनन्द को त्याज्य समझने की भावना, ठोस एवं शास्त्रीय भावों को छायावाद की आनन्द-मयी शैली में बाँधने की उत्कट इच्छा, जीवन की नगण्य घटनाओं एवं उपादानों में से किसी सत्य को व्यंजित करने का लोभ, भावुक की शैली में विचारक की मणि को जड़ देने की उमंग, इन सारी प्रवृत्तियों का सुन्दर एवं चरम विकास उनकी 'दैनिकी' नामक सब से नवीन कृति में हुआ है। 'दैनिकी' एक विचारक कवि की शैली और भाव दोनों ही के सुरम्य परिपाक का सुन्दर उदाहरण है और इसकी तुलना रवि बाबू की 'कणिका' से की जा सकती है। सियारामशरण जी नवीन और प्राचीन, दोनों के बीच से होकर मध्य-मार्ग पर चल रहे थे। इस यात्रा में उनका हृदय आगे और मस्तिष्क पीछे की ओर था। अबतक उनकी शैली में प्राचीन की नग्नता और नवीन की कुहेलिका आँखमिचौनी खेल रही थीं। 'दैनिकी' में आकर इस द्वन्द्व का अन्त हो गया है। अब वे उस बिन्दु पर दृढ़तापूर्वक खड़े हो गये हैं जहाँ नवीन और प्राचीन दोनों ही प्रेमपूर्वक मिल सकते हैं। इस दृष्टि से भी सियारामशरण जी की कृतियों में 'दैनिकी' का अप्रतिम स्थान होना चाहिए।

'दैनिकी' में कवि सिर्फ़ दृढ़ ही नहीं है; और यह विस्तार कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अब तक जो सरणि चली आ रही थी उसका ऐसा ही परिपाक होना चाहिए था। सदा की भाँति वह यहाँ भी रोज़दिन की घटनाओं के भीतर से जीवन के किसी सत्य की खोज करता है, किन्तु सत्य अब उसकी पकड़ में पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ता तथा आसानी से आता है। पहले वह सत्य के प्रतिबिम्ब

से भी सन्तुष्ट हो जाता था। अब ऐसी बात नहीं; उसे बिम्ब नहीं, शुद्ध सत्य चाहिए और शुद्ध सत्य उसे सर्वत्र ही उपलब्ध होता है, यद्यपि इस सत्य को सत्य मानने का विश्वास उसे अपनी ही दृष्टि से मिलता है। किन्तु यह कोई नई बात नहीं है। साहित्य में सत्य वही है जो पाठकों की सम्भावना-वृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। साहित्यकार लोगों के मस्तिष्क में सत्य का खूँटा नहीं ठोकता, उससे इतनी ही स्वीकृति लेना चाहता है कि हाँ, यह सत्य हो सकता है। इस संभावना-वृत्ति का 'दैनिकी' में सर्वत्र ही सम्यक् समाधान है, अतएव न्यायपूर्वक यह मान लेना चाहिए कि कवि का सत्यान्वेषण का कार्य सफल हुआ है और जीवन ने इस छोटे-से क्षेत्र में (दैनिकी कुल साठ—पैंसठ पृष्ठों की पुस्तिका है) उसे अपना रूप खुलकर दिखाया है।

सियारामशरण जी 'दैनिकी' से पहले भी मिट्टी का शोध करने के लिए आया करते थे; किन्तु उस समय लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही उन्हें कोई शक्ति अपनी ओर खींच लेती थी। वह कुछ लेकर ही लौटते थे, यह ठीक है; किन्तु यह 'कुछ' वह चीज़ नहीं थी जो मिट्टी की आत्मा उन्हें पुरस्कार के रूप में दे सकती थी। 'दैनिकी' में आकर उन्हें यह पुरस्कार मिला है और वह आनन्द तथा विस्मय के साथ पहले-पहल यह अनुभव कर रहे हैं कि मिट्टी की झनझनाहट ही इस युग का सच्चा काव्य है।

इस युद्ध के समय में सियारामशरण जी ने कविता की दो पुस्तकें तैयार की हैं—एक है 'दैनिकी' और दूसरी 'उन्मुक्त'। 'उन्मुक्त' में काव्य का प्रवाह अपेक्षाकृत शिथिल है। कवि जो कुछ अख़बारों में पढ़ रहा था, उसी के बल पर उसने वर्तमान युद्ध का एक रूपक कविता में लिख दिया। शायद यह पुस्तक युद्ध और गाँधीवाद की तुलना के निमित्त लिखी गयी है, क्योंकि युद्ध के अन्त में पराजित लोग अहिंसा की दुहाई दे रहे हैं। यह उलटा न्याय है; क्योंकि अहिंसा अब उन्हें शोभा दे सकती है जो आक्रमणकारी होकर भी जीत गये हैं। स्वत्व और न्याय की बाज़ी हारनेवाले लोग जब अहिंसा और क्षमा की बातें बोलने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि खुफ़िया पुलिस के डर से वे अपने भीतर के प्रतिशोध को छिपा रहे हैं अथवा अपने खोए हुए आत्म-विश्वास को किसी प्रकार जगाने के लिए सांस्कृतिक उद्गारों का अवलम्बन ले रहे हैं। 'हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर' में से गाँधीवाद का सार व्यंजित होता है। किन्तु, यह किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता कि जो लोग पराजय के बाद

इस सिद्धान्त का महत्त्व समझने लगे हैं, वे इसका प्रयोग करके अपना खोया हुआ द्वीप वापस कैसे पायेंगे।

इसके विपरीत 'दैनिकी' के उद्गारों में जीवन का अधिक तेजस्वी और सच्चा स्वर प्रकट हुआ है। उसमें शोषितों के लिए अहिंसा और कष्ट-सहन का उपदेश नहीं है। बल्कि जो कवि सर्वहारा की दशा पर आँसू बहाकर शोषकों में करुणा उत्पन्न करना चाहते हैं, उन्हें 'दैनिकी' के कवि ने बहुत ऊँचा उठाकर ललकारा है :

> **करता है क्या ? अरे मूढ़, कवि यह क्या करता ?**
> **उत्पीड़ित के अश्रु लिये ये कहाँ विचारता ?**
> **दिखा-दिखाकर इन्हें न कर अपमानित उसको,**
> **लौटा आ तू इन्हें उसी पाषाण-पुरुष को।**

यह पाषाण-पुरुष स्वयं सर्वहारा है और उसके आँसू आँसू नहीं, प्रत्युत् अंगार हैं।

> **ज्वाला-गिरि के बीज, क्रूर शोषण से जमकर,**
> **फूट पड़े हैं ठौर-ठौर आग्नेय विकटतर।**
> **काँप उठी है धरा उन्हीं के विस्फोटन में,**
> **फैल गयी प्रलयाग्नि-शिखा यह निखिल भुवन में।**

सियारामशरण जी में कल्पना का मोह आतिशय्य तक कभी नहीं गया था। 'दैनिकी' में आकर तो उसका रहा-सहा अंश भी समाप्त हो गया है अथवा यह कहना चाहिये कि उसका कोई भी छूँछा रूप अब शेष नहीं है या यों समझना चाहिए कि ऊपर-नीचे सभी ओर भटकनेवाला तीर्थयात्री अब मिट्टी पर ही अपने आराध्य के मन्दिर को पहचानकर स्थिर हो गया है। मिट्टी के नाद को सुन सकना, अवनति नहीं, उन्नति है। अवनति तो वह है जिसके कारण मनुष्य सत्य को तिरस्कृत करके ख़्याली दुनिया में डूबने जाता है। 'दैनिकी' की 'स्वप्नभंग' नाम्नी कविता में सियारायशरण जी कहते हैं कि समाधि की अवस्था में एक दिन वह नन्दन-कानन में पहुँच गये और कल्पलता से कहने लगे कि अपना एक फूल मुझे दे दो। उसे मैं चुपके-से अपनी काव्य-वधू के जूड़े में जड़ दूँगा जिससे मेरा आँगन सुरभित हो उठेगा और मेरी काव्य-वधू विस्मय-भरी दृष्टि से इधर-उधर देखने लगेगी। इतने में उनका स्वप्न टूट जाता है और देखते हैं कि न तो नन्दन-कानन है और न कल्पलता। है तो

एक सूनी कोटरी जिसमें कवि अकेला बैटा हुआ है और सुनाई पड़ता है तो एक पिटती हुई बालिका का स्वर :

पिटी बालिका का कटु क्रन्दन नीचे से आता था,
नहीं रुक रहा था ताड़नरत कर कुपिता माता का।

लेकिन संसार में आज कितने ही 'ताड़नरत' हाथ हैं, जो इस कुपिता माता के हाथों से कहीं अधिक कठोर हैं और पूरे परिवार के साथ भूखों मरनेवाले कितने ही ऐसे लोग हैं जिनका विलाप इस बालिका के क्रन्दन से कहीं हृदयद्रावक और कराल है। तो कवियों के नन्दन-कानन का स्वप्न अब भी क्यों नहीं टूटता ?

कवि ने इस पुस्तक की छोटी-सी भूमिका में लिखा है—"जनरुचि को आज संग्राम की विकट परिस्थिति ने सस्ती और साधारण वस्तुओं की ओर भी उन्मुख कर दिया है। 'दैनिकी' का रचनाकाल यही है। इसी कारण इसके अपना लिये जाने की आशा रचयिता को है।" तथा "कवि की विशेषता साधरण से असाधारण की उपलब्धि कर लेने में है।" पता नहीं, इसमें सियारामशरण जी की शंका बोलती है अथवा आत्मविश्वास। किन्तु सच तो यह है कि संकट के जिस काल ने लोगों को साधारण वस्तुओं की ओर उन्मुख कर दिया है, उसी ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के प्रसाधन के सारे उपकरण चाहे छीन लिये जायँ, किन्तु अन्न और वस्त्र तो उसे मिलना ही चाहिए।



सियारामशरण के उपन्यास

[प्रो० देवराज उपाध्याय, एम० ए०]

आज हमारे आध्यात्मिक जीवन की धारा साहित्य-क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रवाहित हो रही है; पर उनमें सबसे जीवन्त और सजीव धारा कथा की है। कथा में यौवन की अदम्य शक्ति है, उत्साह है और वह मानो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर छा जाना चाहती है। चाहे वह धर्मक्षेत्र हो अथवा कुरुक्षेत्र, धार्मिक हो अथवा सामाजिक, ज्ञान का हो, विज्ञान का हो अथवा मनोविज्ञान का हो, सब पर वह अधिकार करती चली जा रही है। और यह निश्चित है कि आगामी एक शताब्दी तक कथा का वेग बढ़ता ही चला जायगा, इसके अन्तर में कुछ ऐसी शक्ति है कि उसकी प्रगति पर कोई वस्तु रुकावट नहीं डाल सकती। यही कारण है कि साहित्य के विविध रूपों में आज कथा के क्षेत्र में जितने प्रयोग हो रहे हैं, यहाँ जितने वैविध्य का दर्शन हो रहा है, यहाँ जितनी छट-पट और दौड़-धूप दिखलाई पड़ रही है, उसका शतांश भी और कहीं नहीं। आज के कथा-साहित्य को देखकर एक विशाल-काय अस्पताल की कल्पना हो आती है जिसमें अनेकों प्रयोग-शालाएँ हैं और उनमें मानवता को, जीवन को, चीर-फाड़कर देखने में, उसके विविध पहलुओं को देखने और दिखाने में डाक्टरों का समूह संलग्न है। ये डाक्टर भी एक ही सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले नहीं। इनका सिद्धान्त पृथक्, दृष्टिकोण पृथक्, रोगों के उद्गम और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में इनकी विचारधारा पृथक्। एक ओर तो डाक्टरी पद्धति के चिकित्सक हैं जो सशक्त दवाओं और सुइयों के बल पर रोगों को दबा देना चाहते हैं तो दूसरी ओर प्राकृतिक चिकित्सकों का एक दल है जो दवाओं को पाप की तरह त्याज्य समझता है और प्रकृति की उपचार-शक्ति पर ही सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। इन दो सीमाओं पर खड़े चिकित्सकों के बीच अन्य-अन्य चिकित्सक भी हैं जो अपनी बुद्धि और अनुभव के अनुसार इनकी अच्छाइयों को अपनी पद्धति में ग्रहण कर रहे हैं। सब अपनी-अपनी

जगह ठीक हैं। सब पद्धतियों में रोगियों की चिकित्सा से रोगी स्वस्थ होते हैं और सब में कुछ ऐसे रोगी मिलते हैं जिनकी चिकित्सा में उन्हें सफलता नहीं मिलती। किसी में अनवरत सफलता ही हो और दूसरी पद्धति में निरन्तर असफलता हो, ऐसी बात देखने में नहीं आई। वास्तविक बात तो यह है कि सब के द्वारा जीवन की किसी-न-किसी माँग की पूर्ति होती है, उन सबों के द्वारा हमारे जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है, सबका प्रयोग जीवन अपने लिए करता है। सब के ऊपर जीवन ही सत्य है, यदि वह है तो वह अपने लिए उचित मार्ग ढूँढ़ ही लेगा। और जो मार्ग वह पकड़ेगा वही उसके लिए उचित मार्ग होगा।

ऊपर कथाकारों को चिकित्सकों के रूपक में देखने का प्रयत्न किया गया है। शायद इसलिए कि मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि सियारामशरण जी को मैं प्राकृतिक चिकित्सक के रूप में रखूँ। उन्हें आज के विज्ञान के द्वारा आविष्कृत औज़ारों में विश्वास नहीं, वे अनेक तीक्ष्ण पेटेन्ट दवाओं के क़ायल नहीं, वे स्वस्थ चित्त, शान्त वातावरण, स्नेह-सिक्त हृदय और सीधे-साधे जीवन के क़ायल हैं। उनका हृदय एक वैष्णव भक्त का है, थोड़े में ही सब कुछ पा लेने का और सब में भी थोड़ा नहीं पा लेनेवाले नैष्टिक श्रद्धावान् का हृदय है। गुप्तजी के पात्रों में कहीं भी किसी प्रकार की जटिलता नहीं, उनके कथा-विस्तार में कहीं भी किसी प्रकार का ज़ोर नहीं, किसी तरह की उलझन नहीं। वहाँ जो कुछ है साफ़-सुथरा है, सीधा-सादा है जिसे देखने के लिए किसी प्रकार के चश्मे की आवश्यकता नहीं है। चश्मे की आवश्यकता नहीं मैंने कहा। इसलिए कहा कि—यूरोप की बात छोड़ दीजिये—हिन्दी में भी आज के दिन ऐसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं जिनका रसास्वादन करने के लिए पाठकों को मनोविज्ञान, मसलन् मनोविश्लेषण अथवा आचरणवादी मनोविज्ञान से परिचय की आवश्यकता पड़ती है। उसका पाठक साधारण नहीं, विशिष्ट होगा; उसका मस्तिष्क विशेष प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित होगा। पर गुप्त जी का कथा-साहित्य सर्व-साधारण के लिए है, उसमें निवास करने-वाले जीव साधारण हैं, उनके मस्तिष्क की क्रियाएँ भी साधारण हैं, उनमें किसी भी तरह की पेचीदगी नहीं। जिस समय देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष चल रहा था उस समय कांग्रेस के अधिवेशनों में यह गीत गाया जाता था—

मेरी छोटी सी मढैया में राज रहे,
माता के सिर पर ताज रहे।

स्वतंत्रता का सिपाही कोई बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं चाहता था, वह एक छोटी-सी कुटिया में ही अपनी भारतमाता की मूर्ति की स्थापना करेगा, पर हाँ, उसके भाल पर मुकुट अवश्य रखेगा। ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि गुप्त जी ने कथा की मूर्ति की स्थापना के लिए कोई बड़े कानवास की चाहना नहीं की, वे एक छोटी-सी कुटिया में एक पतली-सी दीप-शिखा प्रज्वलित कर देते हैं, जिसकी निष्कम्प लौ जलती रहती है और एक साहित्यिक प्रकाश की रेखा से हृदय के अन्धकार को दूर कर देती है।

जहाँ हिन्दी के अन्य कथाकारों की रचनाओं को पढ़कर विद्युन्माला की दीप-मालिकाओं से जगमग करती और आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली प्रदर्शनी की याद आ जाती है, वहाँ गुप्त जी की रचना मिट्टी के दीपक की तरह मानो हृदय में ही जग पड़ती हो; दूसरों को हमारे हृदय के दरवाज़े को तोड़कर अथवा सेंध मारकर प्रवेश करना पड़ता है, वहाँ गुप्तजी की रचना के लिए हृदय-द्वार स्वागतार्थ सदा उन्मुक्त रहता है, दूसरे हम से भी कुछ माँगते हैं, पर गुप्त जी देना ही जानते हैं लेना वहाँ है ही नहीं। अन्यों को अपनी बुद्धि का, अपनी तेजस्विता, अपने ज्ञान का गर्व है। गुप्त जी को अपने अज्ञान का बल है, दूसरों को अपनी सारी तड़-भड़क के रहते भी कभी-कभी लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती, वहाँ गुप्त जी कभी भी असफल नहीं रहते, बस, "थोड़ा खाना और बनारस का रहना।"

गुप्त जी ने तीन उपन्यास लिखे हैं 'गोद' 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी'। उपन्यास से अधिक उन्हें बड़ी कहानियाँ कहना ही अच्छा होगा। आज के युग में इनके मूल्यांकन में सदा ही मतभेद रहेगा। एक पाठक का दल ऐसा होगा जो यह कहेगा कि गुप्त जी के उपन्यासों के रूप में हिन्दी-कथा की आत्मा अपने सच्चे स्वरूप के अनेक प्रकार की कृत्रिमता से घिरे रहने पर भी अपनी सत्ता की सादगी और स्वच्छता का विजयोच्चार कर रही है। वह मानो कह रही है कि आज तरह-तरह के प्रलोभनों में पड़कर जलती चाय के घूँट से तृप्त होने का नाटक भले ही कर लो, कड़वी शराब को जलते गले के नीचे उतारकर भले ही कलेजे की आग बुझा लो; पर मृत्तिका पात्र में रखे शीतल गंगाजल ही से तुम्हारी प्यास बुझेगी। प्रकृति से दूर हटकर लाख तुम शहरों में एक पत्थर या लोहे के प्रासाद में बस लो, पर लोहे या पत्थर की छाती को चीरकर एक छोटा-सा अंकुर निकल आयेगा और चुपके से कहेगा कि मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो? मैं तुम्हारा सदा से सहचर हूँ; देखो, मैं यह रहा। तुम मुझे अवश्य अपनाओगे।

यहाँ न रहने दो; गमलों में रखो, पर तुम्हारा-हमारा चोली-दामन का साथ है, हम एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं, हम दोनों में एक-दूसरे के लिए माँग है। "ब्याहो लाख वरो दस कुवरी, अन्तहि कान्ह हमारे।"

आलोचकों का एक दूसरा दल भी रहेगा जो यह कहेगा कि गुप्त जी के उपन्यास भले ही कुछ हों पर वे मौसम के फल की तरह हैं, जिन्हें पाकर दिल को कुछ अच्छा-सा नहीं लगता, ऐसा मालूम पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है कुछ ठीक-सा नहीं। रूस के प्रसिद्ध कथा-कार दास्तावेस्की ने एक उपन्यास लिखा है: Dream of a Queer Fellow. एक व्यक्ति स्वप्न देखता है कि उसने आत्महत्या कर ली। तत्पश्चात् वह एक ऐसे लोक में पहुँचा जो हर तरह इस पृथ्वी का ही प्रतिरूप है, वही रहन-सहन, वही क्रिया-कलाप, वही कार्य-व्यापार। अन्तर केवल इतना ही है कि इस नूतन लोक के लोगों के जीवन में किसी तरह के दुःख की छाप नहीं, वे पूर्ण शान्ति और आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे लोग इस व्यक्ति का स्वागत करते हैं और वह उनके जीवन में प्रवेश कर उन्हें दूषित करना आरम्भ करता है। अन्त में वहाँ के निवासियों में छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, विलासिता और क्रूरता का ताण्डव होने लगता है, 'मेरा' और 'तेरा' को लेकर अनेक कलह की उत्पत्ति होती है। एक दिन का स्वर्ग रौरव नरक बन जाता है। यद्यपि पहले के सुख और शान्तिमय वातावरण की याद भी नहीं पर आज अपराधों और अनाचारों से घिरे रहने पर भी निवासियों के हृदय में उसकी चाह जागती है। इधर यह व्यक्ति महसूस करता है कि इस हरे-भरे उद्यान में आग लगा देने का, उसे मरुभूमि में परिणत कर देने का सारा उत्तरदायित्व उस पर ही है। इस भावना के डर से वह तिलमिला उठता है। वह लोगों से प्रार्थना करता है कि वे उसे इस अपराध के लिए दण्ड दें, उसे फाँसी पर लटका दें; पर सब व्यर्थ, कोई उसकी बात नहीं सुनता। वह कहता है, "मैं मनोव्यथा से पीड़ित हाथ मलता लोगों के बीच घूमता और उनपर आँसू बहाता। पर तो भी शायद अतीत के शान्त, सुन्दर और दुःख से अम्लान चमकते उनके मुख से आज के रूप को ही अधिक प्यार करता था। उस कुलषित लोक के लिए पूर्व के स्वर्ग से अधिक प्यार के भाव थे, केवल इसलिए कि वहाँ पीड़ा और व्यथा का आविर्भाव हुआ था। उनकी पीड़ा और व्यथा मेरी आत्मा में कुछ इस तरह प्रवेश कर गयी कि ऐसा मालूम पड़ता था कि मेरा दिल बैठता जा रहा हो और मेरा प्राणान्त हो जायगा।" इस व्यक्ति के स्वर में स्वर मिलाकर एक आलोचक दल कहेगा कि हमारा मन भले ही एक बार जमुना के तीर के निकुञ्जों की सुखद

छाया और शीतल मंद समीर के लिए मचल उठे; पर आज के पार्कों की चहल-पहल तथा एयर-कण्डीशण्ड (Air conditioned) अट्टालिकाओं का वातावरण हमारा मुबारक रहे, हम इसे छोड़ नहीं सकते।

'गोद' में हमारे सामाजिक जीवन की छोटी-सी कहानी है। शोभाराम का वाग्दान किशोरी के साथ हो चुका है; पर एक दिन वह मेले में अपनी माँ के साथ जाकर वहाँ की भीड़ में खो जाती है। एक दिन के बाद स्वयंसेवक उसे अपनी माँ के पास लौटा देते हैं। बस इसी एक बात को ले उसपर लोगों के द्वारा तरह-तरह के लांछन लगाये जाते हैं। सगाई टूट जाती है। शोभाराम के विवाह की बात पृथ्वीपुर के ज़मीदार की कन्या से तय हो जाती है। उधर एक वृद्ध गँजेड़ी-भंगेड़ी के चरणों पर किशोरी के बलिदान की तैयारी होती है। पर शोभाराम का निष्कपट तरुण हृदय किशोरी की दयनीय दशा पर पिघल जाता है और अपने परिवार के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लेता है। परिवार के लोगों को इस मिथ्या धारणा (Fait accompli) के सामने झुकना पड़ता है।

'अंतिम आकांक्षा' भी आत्मकथा के रूप में लिखा एक छोटा-सा उपन्यास है। इसका नायक रामलाल नामक एक भृत्य है। वह अपने स्वामी की सेवा में अपने प्राणों को भी संकट में डालने से नहीं हिचकता। पर इसके लिए न जाने कितने अपमानों की यंत्रणा उसे सहनी पड़ती है। उसके स्वामी के घर पर जब डाकुओं का आक्रमण होता है तब वह तत्परता से अपने स्वामी की रक्षा करता है। बन्दूक से एक डाकू की हत्या हो जाती है, जिसके गले में यज्ञोपवीत के सूत्र थे। बस इसी एक 'अपराध' के बहाने हरिनाथ के यहाँ आई हुई बारात तब तक भोजन के लिए आने को तैयार नही होती जब तक वह हटा नहीं दिया जाता। रामलाल यह सुनकर मालिक की प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देने का विचार कर स्वयं हट जाता है। जाने के समय 'मुन्नी' के हाथ में दो रुपये रखकर जब वह विदा लेता है वह दृश्य इतना कारुणिक हो जाता है कि भवभूति के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि :

अपि ग्रावा रोदति दलति वज्रस्य हृदयम्।

अन्त में अत्यन्त दारुण परिस्थितियों के बीच जिसके लिए समाज उत्तरदायी है, रामलाल को जेल के अन्दर निमोनिया का शिकार होकर दम तोड़ना पड़ता है। उसके चलते उपन्यास की ट्रेजडी घनीभूत हो जाती है और कथा वास्तविक अर्थ में जडी हो उठती है।

तीसरा उपन्यास 'नारी' है। इसमें भी जमुना नामक स्त्री की कथा वर्णित है। उसका पति वृन्दावन परदेश चला जाता है। एक लम्बी अवधि तक लौट कर नहीं आता। अतः अनुमान यही होता है कि उसकी मृत्यु हो गयी, पर यह ग़लत निकलता है। वृन्दावन की अनुपस्थिति में अजीत नामक एक व्यक्ति बड़ी सहृदयता से संकट के अवसरों पर उसको सहायता देता है और जमुना उसकी कृतज्ञताओं से अभिभूत हो उसके साथ घर बसाने को उद्यत भी हो जाती है। पर यह बात होने नहीं पाती। इधर मोतीलाल नामक एक महाजन जिसका क़र्ज़ वृन्दावन पर है जाल फ़रेब रचकर जमुना को उसकी थोड़ी सम्पत्ति से बेदख़ल कर देता है। अब वह असहाय नारी अकेले ही विपत्तिपथ पर चल निकलती है।

यही गुप्त जी के तीनों उपन्यासों की रूप-रेखा है। जो लोग उपन्यास में पेचीदगी और जटिलता की माँग करते हैं और चाहते हैं कि कथाकार किसी समस्या को गहराई में ले जाकर उसे अधिक-से-अधिक खोलकर दिखलाये तथा पात्रों के मनोविज्ञान की चीरफाड़ कर, उधेड़कर हमारे सामने रख दे उन्हें निराश होना पड़ेगा। गुप्त जी उन उपन्यासकारों में नहीं हैं जिन्हें हृदय के घावों के खुरंट उखाड़ लाली दिखाने में मज़ा आता है। वे मानों इस बात से डरते हैं कि घाव को खुला छोड़ने से डर है कि उन्हें हवा लग जाय और हवा में तैरते हुए कीटाणु उनमें प्रवेश कर कहीं उसे और भी विषाक्त न बना दें। घावों का मवाद हल्के से अवश्य चाहे निकाल दो पर उनके साथ हिंसात्मक सर्जरी करने से अन्त में हानि की सम्भावना है। कथा के विषय और प्रतिपादन के ढंग में गुप्त जी मुझे निराला जी की कहानियों से समीप अधिक लगे। निराला जी की कहानियों के पढ़ने से, मसलन् 'सुकुल की बीवी' मालूम होता है कि कनौजिये ब्राह्मणों में जो सामाजिक बुराइयाँ हैं, जो प्रथायें प्रचलित हैं, जो उनका रीति रसम है, जो उनका व्यवहार है उन सब को उन्होंने ज्यों-का-त्यों काग़ज़ पर उतार दिया है। अपनी ओर से बिना कुछ मिलाये उन कथाओं को जिन्हें उन्होंने समीप से देखा है, उन्हें ही लिपि-बद्ध कर दिया है। सच पूछिये तो यही इन दोनों कथा-कारों में खटकनेवाली बात भी दिखाई पड़ती है। कथा में हम प्रकृत वस्तु का दर्शन नहीं करते और न करना चाहते हैं। कथा एक कला-वस्तु है जिसका पुनर्निर्माण औपन्यासिक के मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क के माध्यम से छनकर आने के कारण उसके रूप में एक संशोधन सा आ जाता है ठीक उसी तरह जिस तरह लकड़ी को पानी में डाल कर देखें तो वह कुछ झुकी-सी दिखलाई पड़ती है। कथा में एक तरह का बाँकपन, पेचीदगी और जटिलता

होनी ही चाहिये—किसी तरह की हो, शैली की, कथोपकथन की, विषय-निर्वाचन की, वर्णन की, वस्तु-सौष्टव की। नहीं तो वह एक बहुत बड़ी अपील से वंचित रह जायगी। बाण भट्ट ने कथा की महिमा वर्णन करते हुए कहा है कि

कथाकलालाप विलास कोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।

अर्थात् कथा नई दुलहिन की तरह है, जो स्वयं रसार्द्र हो अपने पति की सेज पर आकर अपनी मीठी-मीठी बातों से उसके हृदय को प्रेम और कौतूहल से भर देती है। हाँ, यह ठीक है; पर यदि वह उसके हृदय में रस का दरिया बहा रही है तो वह यों ही थोड़े आयेगी। आयेगी तो समा बाँधती हुई, उसकी चाल में एक मस्तानी अदा होगी, उसके पैरों में एक रुनझुन होगी जो

मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विश्व-विजय कँह कीन्ही।

गुप्त जी के कथा-सौष्टव पर विचार कीजिये। विचार करने का यह अर्थ नहीं कि उनकी कथा की त्रुटियाँ निकाली जायँ और यह बताया जाय कि अमुक-अमुक बातें उनकी कथा में क्यों समाविष्ट नहीं की गयी हैं। उदाहरणार्थ उसमें चेतना-प्रवाह (Stream of Consciousness) वाली टेकनीक, कथा-वस्तु के निरन्तर विकासवाली टेकनीक (Orderly Unfolding of Plot) के प्रति उदासीन रहनेवाली नई पद्धति, हमारी सामाजिक मान्यताओं पर चुटीली चोटें देकर झकझोर देने-वाली और हमारे मस्तिष्क के सारे पुराने संस्कारों को झाड़ देनेवाली पद्धति पाठकों के साथ बिल्ली जिस तरह चूहे के साथ खेलती है उस तरह खेलनेवाली पद्धति—या इस तरह की अनेक प्रयोगशील पद्धतियों का उपयोग क्यों नहीं किया गया है। इन बातों को ज़रा और भी स्पष्ट करने के लिए 'पहाड़ी' तथा 'अश्क' के उपन्यासों से कुछ सहायता लूँ। आधुनिकता के रंग में रंगे आजकल के अधि-कांश कथाकार अपने उपन्यासों के लिए जिस एक पद्धति को अपना लेते हैं उसे धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। वास्तव में यह सिनेमा से लिया गया है। सलीम, नूरजहाँ के प्रणय के आरम्भिक दिनों में उसके साथ उल्लास और महोत्सव का जीवन व्यतीत करता है। पर आगे चलकर जब नशा के उतार में सलीम में थोड़ी-सी विरक्ति आ जाती है तो नूरजहाँ के मानस-पटल पर वे पुराने दिन और उनकी रंगरेलियाँ बारी-बारी से आने लगती हैं और वे ही पुराने फ़िल्म दिखलाये जाते हैं। इसमें

अलग शूटिंग (Shooting) के परिश्रम से जान बच जाती है, दर्शकों के मनो-रंजन में भी कमी नहीं होती है और व्यर्थ के खर्च से भी रक्षा होती है। इस पद्धति का कथाकारों ने अन्धाधुन्ध प्रयोग करना प्रारम्भ किया है।

'पहाड़ी' का एक उपन्यास है 'सराय'। रेखा उसकी एक पात्री है। मिस्टर सिंह के साथ पाँच-छः महीने उसके बड़े उल्लास से व्यतीत हुए हैं। मिस्टर सिंह की बदली हो गयी है। वे कल चले जायेंगे। उनके अथवा यों कहिये कि दोनों के हृदय में भीतर-भीतर नर्म आँच पर ज्वालामुखी सुलगता रहता है। वह आज धधक उठना चाहता है कि लता आ जाती है। मिस्टर सिंह चले जाते हैं। लता भी कुछ देर बाद चली जाती है। रेखा बिना कपड़े उतारे ही पलंग पर लेटकर फफक-फफककर रोने लगती है। साथ ही उसका मन बचपन से लेकर आज तक के इतिहास की पुनरावृत्ति कर जाता है। इस इतिहास-पुनरावृत्ति का वर्णन ग्यारह पन्नों में किया जाता है। अश्क जी के उपन्यास 'सितारों के खेल' में लता नामक पात्री के दो प्रेमी हैं। एक को सफल कहिये, दूसरे को असफल या निराश। लता अपने सफल प्रेमी जगत् के साथ किश्ती में दरिया की सैर कर रही थी। बीच में अपने निराश प्रेमी बंसीलाल के गीत की मधुर ध्वनि उसके कानों में पड़ती है—

"लहरों पर बहे जाओ।
तुम दर्द मेरा जानो,
जो दर्द कहीं पाओ।"

इस करुणापूर्ण गीत के श्रवण मात्र से, उसके प्रेम का अंजाम भी दर्द भरा न हो—इस भविष्य की कल्पना से वह काँप उठती है। साथ ही वह अपने भूत जीवन के कुछ सुनहले पन्नों को उलटने लगती है, जिससे उसका इतिहास चमकता-सा दिखाई पड़ता है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि इस तरह की कोई जटिलता गुप्तजी के उपन्यासों में नहीं है। मालूम होता है कि कथा का स्रोत अपने उद्गम-स्थल से निकलकर सीधे अपने गंतव्य स्थान पर ही समाप्त होता है अथवा जहाँ पर समाप्त होता है वही उसका गंतव्य स्थान है। उनकी कथा तीर की तरह चलती है उसे मुड़कर देखने की फ़ुरसत नहीं उसे अपनी गति के लिए जो शक्ति मिल गयी है उसे ही लेकर निकल पड़ती है।

दूसरे तरह की कथा होती है, जिसकी गति सर्प की तरह होती है (zigzag) टेढ़ी-मेढ़ी। साँप कुछ आगे बढ़ता है फिर कुछ पीछे फिसल जाता है

इसी फिसलन में वह गति 'चित कर आगे बढ़ जाता है। गुप्तजी की कथा सर्प-गति से नहीं चलती; गज की गति से चलती है। यदि कविवर पंत के कुछ शब्द उधार लें तो कहें कि 'गजि-गति सर्प डगर पर' गुप्तजी के उपन्यासों की कथा की धारा प्रचण्ड वेग से गति में भयंकर उन्माद लिये भले ही न चलती हो, पर उसकी यात्रा में कहीं भी ठहराव नहीं, कहीं भी थकावट नहीं। ऐसा कहीं भी नहीं दीख पड़ता कि

> **बैठि रहो अति सघन बन,**
> **पैठि सदन तन माँह।**
> **निरखि दुपहरी जेठ की,**
> **छाहौं चाहति छाँह॥**

जेठ की एक चिलचिलाती दुपहरी होती है, जिसमें छाया भी छाँह में विश्राम करती-सी जान पड़ती है। आजकल के दूसरे प्रकार के उपन्यासों के कथा-भाग में उस तरह के विश्राम कर लेने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। कारण कि उन उपन्यासों में छोटी-मोटी, दुबली-पतली नाजुक बदन कथाओं पर अधिक भार डाल दिया जाता है, उनसे अधिक काम लेने की प्रवृत्ति लोगों में होने लगी है, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध भी गंतव्य-अगंतव्य सब स्थानों में 'पेर' दिया जाता है, दूसरे शब्दों में उनका Exploitation किया जाता है। अतः कथा बेचारी में थककर लेखक रूपी सूर्य की प्रतिभा-किरण के द्वारा उत्पन्न भीषण गर्मी में विश्राम करने की इच्छा होती है। यदि यात्री दुर्बल हो और उसके सर पर भारी बोझा हो तो उसे जब-तब राह में ठहरकर विश्राम करना आवश्यक होगा ही। पर यदि वह स्वस्थ हो और थोड़ा-सा ही सामान उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। हाँ, यदि कुछ थोड़ी सी आवश्यकता हुई तो उसे झट पूरी कर आगे अपने लक्ष्य पर बढ़ चलेगा। गुप्त जी की कथा की तुलना ऐसे ही यात्री से हो सकती है। यात्री भी स्वस्थ है, भले ही पहलवान न हो, उस पर बोझ भी अधिक नहीं और वह आगे बढ़ता ही जा रहा है। ठहरता भी है तो ऐसा ही मालूम होता है कि क्या करे बेचारा प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती है न। वह ठहरना नहीं है; वह भी चलने का ही अंश है। 'गोद' में शोभाराम अपने पिता वग़ैरह की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ थोड़ी कहानी ठहरती सी अवश्य है; पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा-सूत्र जुड़कर चल निकलता है। मानो घुड़सवार घोड़े की पीठ से

गिरते देर नहीं कि झट पीठ की धूल झाड़कर बढ़ चला। उसी तरह 'अन्तिम आकांक्षा' में रामलाल के चले जाने के बाद होता है; पर कहानी झट आगे बढ़ जाती है।

हाँ, 'नारी' में कथा में थोड़ी पेचीदगी अवश्य है। सूत्र में एक-आध गाँठ अवश्य मालूम पड़ती है। कारण यह है कि यहाँ नारी-जीवन की समस्या को लेखक ने स्पर्श किया है और आज के पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि नारी-जीवन तथा नारी-मनोविज्ञान में फ्रायड ने जानें कितने संभव और असंभव करिश्मों का समावेश कर दिया है कि सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उसमें बाल-मनोविज्ञान की बातें भी आगयी हैं। हल्ली की कुछ हरकतें तो रोम्या रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' की तरह मालूम पड़ती है। हल्ली है तो छोटा ही, पर उसे अजीत की उसकी माँ के साथ बढ़ती घनिष्ठता अच्छी नहीं लगती। उसमें कहीं-कहीं पाठकों को झकझोरने का भी प्रयत्न है, जिसे देखकर पाठक के मुख से बरबस यह निकल जाता है—"दुनिया-वालो आकर मेरी क़िस्मत की खूबी देखो। रह-रह जाती है बस मुझको मिलते-मिलते मधुशाला"। पाठक कहता है काश डाकिया ने पत्र हीरालाल को न देकर जमुनाबाई को दिया होता। काश जमुना के पति के साथ भाटे की मुलाक़ात नहीं होती। और ये घटनाएँ होते-होते नहीं होतीं। इसी को कहते हैं 'Many a slip between cup and the lip' असल बात यह है कि 'नारी'-उपन्यास के साथ गुप्त जी आधुनिक कथा-क्षेत्र की झाँकी लेना चाहते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह मैथिलीशरण गुप्त जी अपनी मुख्य द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति को छोड़कर छायावादी क्षेत्र में भी कभी-कभी विचरण कर आते हैं। परन्तु न तो हम मैथिलीशरण जी के छायावादी रूप को ही पहचानते हैं और न सियारामशरण जी को मनोविज्ञान की तहों को चीर-फाड़कर रखनेवाले कथा-कार के रूप में। शायद यह संभव भी नहीं। गुप्त जी का आस्तिक भाव-प्रवण हृदय, जीवन को समष्टि रूप में देखनेवाला दृष्टिकोण, थोड़े ही में सब कुछ पा जानेवाली वैष्णवी प्रवृत्ति सदा उन्हें चक्करदार गलियों में भटकने देने से रोकेगी।

गुप्त जी के उपन्यासों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है उनका कलात्मक ढंग से अन्त। कथा इस ढंग से और इस उचित मौक़े पर समाप्त होती है मानो उपन्यास के सारे छिद्रों को, उनकी त्रुटियों को अपने महत्त्व से छा देती है और इस तरह छा देती है कि उनका पृथक् अस्तित्व रह ही नहीं जाता। किसी

औपन्यासिक का कहना यह था कि यदि किसी पाठक को विषादान्त कथा से रुचि नहीं हो तो वह उसकी पुस्तक के अन्तिम पाँच-छः पन्ने फाड़दे उसे प्रासादान्त कथा का आनन्द आजायेगा। पर गुप्तजी के साथ इस तरह की छेड़-छाड़ नहीं चल सकती। अन्तिम पन्ने गुप्त जी की कथा की जान हैं— आत्मा हैं। कलात्मकता का सारतत्त्व वहाँ आकर केन्द्रित हो गया है। वह जितना सजीव है उतना ही तुनुक भी। ज़रा-सा छू भर दिया कि दीपक की लौ फुक हो गयी। हृदय मानव-शरीर का कितना सजीव अंग है। वहीं से सारे शरीर में जीवन की गति प्रसारित करती है पर जहाँ उसकी धुकधुकी से ज़रा भी छेड़-छाड़ हुई कि शरीर में और शव में कोई अन्तर नहीं। उर्दू के शायरों में यह प्रथा है कि किसी नज़्म की अन्तिम पंक्ति में अपने 'तख़ल्लुस' का प्रयोग करते हैं। इसे मकता कहते हैं। इसी मकते में उनकी सारी कला निहित रहती है। दाग़ के मकते की ये पंक्तियाँ कितनी सजीव हैं।

कोई नामो निशा पूछे तो ऐ क़ासिद बता देना,
तख़ल्लुस दाग़ है हम आशिकों के दिल में रहते हैं।

सवैयों के पाठकों को मालूम होगा कि उनकी सजीवता अन्तिम पंक्ति पर किस तरह निर्भर रहती है। जो कला मकते में, सवैयों के संगठन में दिखलाई पड़ती है, उसी के दर्शन गुप्तजी के तीनों उपन्यासों में होते हैं। मैं पाठकों से एक बात कहूँ। आज एक काम कीजिये। 'गोद' में से यह वाक्य निकाल लीजिये, "उनकी गोद तो बहू ने आकर भर दी, मेरी ख़ाली थी सो तू भरदे।" 'अन्तिम अकांक्षा' से "भैया, भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि अपने ही गाँव में मैं झट से फिर जन्म लूँ, दूसरे जन्म में झट से फिर तुम्हारे चरणों में पहुँचूँ। ....तो क्या इसीलिए अन्तिम समय उसने मेरे निकट अपनी वह आकांक्षा प्रकट की थी।" 'नारी' से यह वाक्य, "वह निरन्तर नारी पग-पग के अंधकार में, उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है, दुःख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके; उसे कोई भय नहीं है, कोई चिन्ता नहीं।" और तब दोनों उपन्यासों को पढ़कर देखिये। मैं जरा हल्के मूड में होऊँ तो यह कहूँ कि गुप्त जी के उपन्यास-ये वाक्य = ०।

गुप्तजी के उपन्यासों में नाटकीय दृश्यों (Dramatic Scenes) का सर्वथा अभाव है। नाटकीय दृश्य का मतलब यह है कि ऐसे दृश्य

गिरते देर नहीं कि झट पीठ की धूल झाड़कर बढ़ चला। उसी तरह 'अन्तिम आकांक्षा' में रामलाल के चले जाने के बाद होता है; पर कहानी झट आगे बढ़ जाती है।

हाँ, 'नारी' में कथा में थोड़ी पेचीदगी अवश्य है। सूत्र में एक-आध गाँठ अवश्य मालूम पड़ती है। कारण यह है कि यहाँ नारी-जीवन की समस्या को लेखक ने स्पर्श किया है और आज के पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि नारी-जीवन तथा नारी-मनोविज्ञान में फ्रायड ने जाने कितने संभव और असंभव करिश्मों का समावेश कर दिया है कि सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। उसमें बाल-मनोविज्ञान की बातें भी आगयी हैं। हल्ली की कुछ हरकतें तो रोम्या रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' की तरह मालूम पड़ती है। हल्ली है तो छोटा ही, पर उसे अजीत की उसकी माँ के साथ बढ़ती घनिष्ठता अच्छी नहीं लगती। उसमें कहीं-कहीं पाठकों को झकझोरने का भी प्रयत्न है, जिसे देखकर पाठक के मुख से बरबस यह निकल जाता है—"दुनिया-वालो आकर मेरी क़िस्मत की खूबी देखो। रह-रह जाती है बस मुझको मिलते-मिलते मधुशाला"। पाठक कहता है काश डाकिया ने पत्र हीरालाल को न देकर जमुनाबाई को दिया होता। काश जमुना के पति के साथ मांटे की मुलाक़ात नहीं होती। और ये घटनाएँ होते-होते नहीं होतीं। इसी को कहते हैं 'Many a slip between cup and the lip' असल बात यह है कि 'नारी'-उपन्यास के साथ गुप्त जी आधुनिक कथा-क्षेत्र की झाँकी लेना चाहते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह मैथिलीशरण गुप्त जी अपनी मुख्य द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति को छोड़कर छायावादी क्षेत्र में भी कभी-कभी विचरण कर आते हैं। परन्तु न तो हम मैथिलीशरण जी के छायावादी रूप को ही पहचानते हैं और न सियारामशरण जी को मनोविज्ञान की तहों को चीर-फाड़कर रखनेवाले कथा-कार के रूप में। शायद यह संभव भी नहीं। गुप्त जी का आस्तिक भाव-प्रवण हृदय, जीवन को समष्टि रूप में देखनेवाला दृष्टिकोण, थोड़े ही में सब कुछ पा जानेवाली वैष्णवी प्रवृत्ति सदा उन्हें चक्करदार गलियों में भटकने देने से रोकेगी।

गुप्त जी के उपन्यासों का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है उनका कलात्मक ढंग से अन्त। कथा इस ढंग से और इस उचित मौक़े पर समाप्त होती है मानो उपन्यास के सारे छिद्रों को, उनकी त्रुटियों को अपने महत्त्व से छा देती है और इस तरह छा देती है कि उनका पृथक् अस्तित्व रह ही नहीं जाता। किसी

औपन्यासिक का कहना यह था कि यदि किसी पाठक को विषादान्त कथा से रुचि नहीं हो तो वह उसकी पुस्तक के अन्तिम पाँच-छः पन्ने फाड़दे उसे प्रासादान्त कथा का आनन्द आजायेगा। पर गुप्तजी के साथ इस तरह की छेड़-छाड़ नहीं चल सकती। अन्तिम पन्ने गुप्त जी की कथा की जान हैं—आत्मा हैं। कलात्मकता का सारतत्त्व वहाँ आकर केन्द्रित हो गया है। वह जितना सजीव है उतना ही तुनुक भी। ज़रा-सा छू भर दिया कि दीपक की लो फुक हो गयी। हृदय मानव-शरीर का कितना सजीव अंग है। वहीं से सारे शरीर में जीवन की गति प्रसारित करती है पर जहाँ उसकी धुकधुकी से ज़रा भी छेड़-छाड़ हुई कि शरीर में और शव में कोई अन्तर नहीं। उर्दू के शायरों में यह प्रथा है कि किसी नज़्म की अन्तिम पंक्ति में अपने 'तख़ल्लुस' का प्रयोग करते हैं। इसे मकता कहते हैं। इसी मकते में उनकी सारी कला निहित रहती है। दाग़ के मकते की ये पंक्तियाँ कितनी सजीव हैं।

कोई नामो निशा पूछे तो ऐ क़ासिद बता देना,
तख़ल्लुस दाग है हम आशिकों के दिल में रहते हैं।

सवैयों के पाठकों को मालूम होगा कि उनकी सजीवता अन्तिम पंक्ति पर किस तरह निर्भर रहती है। जो कला मकते में, सवैयों के संगठन में दिखलाई पड़ती है, उसी के दर्शन गुप्तजी के तीनों उपन्यासों में होते हैं। मैं पाठकों से एक बात कहूँ। आज एक काम कीजिये। 'गोद' में से यह वाक्य निकाल लीजिये, "उनकी गोद तो बहू ने आकर भर दी, मेरी ख़ाली थी सो तू भरदे।" 'अन्तिम अकांक्षा' से "भैया, भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि अपने ही गाँव में मैं झट से फिर जन्म लूँ, दूसरे जन्म में झट से फिर तुम्हारे चरणों में पहुँचूँ। ....तो क्या इसीलिए अन्तिम समय उसने मेरे निकट अपनी वह आकांक्षा प्रकट की थी।" 'नारी' से यह वाक्य, "वह निरन्तर नारी पग-पग के अंधकार में, उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है, दुःख और विपत्ति के इस अँधियारे पथ को इसी तरह पद-दलित करके; उसे कोई भय नहीं है, कोई चिन्ता नहीं।" और तब दोनों उपन्यासों को पढ़कर देखिये। मैं जरा हल्के मूड में होऊँ तो यह कहूँ कि गुप्त जी के उपन्यास-ये वाक्य = ०।

गुप्तजी के उपन्यासों में नाटकीय दृश्यों (Dramatic Scenes) का सर्वथा अभाव है। नाटकीय दृश्य का मतलब यह है कि ऐसे दृश्य

जहाँ पात्रों की क्रियाशीलता घनीभूत रूप में मिले, जहाँ पात्रों को अपने जीवन व्यापार में क्रियात्मक रूप में संलग्न हम लेखक की आँखों से नहीं, बल्कि अपनी आँखों स देखें। हम ही नहीं परन्तु साथ दुनिया के और लोग भी देखें और समान भावों से प्रवाहित हों। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से नाटक के अभिनय देखने का भी आनन्द आ जाता है। 'गोद' की एक घटना की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षित करूँ। शोभाराम की शादी की घटना के अवसर पर इस तरह का संघर्ष-चित्रण करने की गुञ्जाइश थी। कल्पना कीजिये कि वेहटा के प्रौढ़ावस्थावाले वर महोदय जिनसे पार्वती के विवाह की बात तय हो चुकी थी विवाह-मण्डप में उपस्थित हो विवाह-वेदिका पर आसीन होते। उसी समय नवयुवकों का—समाज-सुधारकों का एक दल शोभाराम को लेकर उपस्थित होता। दोनों दलों में थोड़ी चहल-पहल होती, धर्म और समाज-सुधार की दुहाइयाँ दी जातीं। इसी बीच पार्वती धीरे से उठकर शोभाराम के गले में वरमाला डालकर सारे झगड़ों का अन्त नाटकीय ढंग से कर देती तो कथा में कितनी सरगर्मी और स्फूर्ति आजाती। माना कि घटना का प्रवाह मुड़ जाता, उसमें कुछ क्षिप्रता या वक्रता आजाती और कथा उस तरह नहीं विकसित होती जिस तरह 'गोद' में विकसित हुई है। पर उपन्यास तो हम पढ़ते ही हैं अपने जीवन में थोड़ी हलचल लाने के लिए, शिथिल तरंगों को जगाने के लिए, तथा दैनिक जीवन से मिलती-जुलती फिर भी अपनी चारों ओर अधिक सजीवता के वातावरण को लिए चलनेवाली घटना को देखकर जीवन की आढ्यता (abundance of life) की झाँकी लाने के लिए। अन्यथा नितप्रति आँखों के सामने बहते रहनेवाले जीवन-प्रवाह को छोड़कर हमारा मन उपन्यास या साहित्य पढ़ने के लिए लालायित क्यों रहता ? कहा है—

दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को
वरना तायत के लिए कुछ कम न थीं तरवोरियाँ।

पर इन बातों को लेकर हम गुप्तजी की कथा-कला को त्रुटिपूर्ण या सदोष नहीं कहेंगे। किसी साहित्यिक कृति की बाहरी आकृति उदाहरणार्थ 'उपन्यास की कथा' को मूल लेखक के हृदयस्थ जीवन-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त होती है। वहीं से वह अपनी रूप-योजना के लिए रस प्राप्त करती है और यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है। जिस मिट्टी पर अंकुर उगता है उसी के अनुसार उसके रूप और गुण में अन्तर होता है। अंकुर की सार्थकता और सफलता इसी में है कि वह बीज और मिट्टी के प्रति वफ़ादार रहे, ईमानदार रहे। जिस

अनुपात में वह इन दोनों से अलग होता है—यह प्रश्न नहीं कि ऊपर या नीचे—उसी अनुपात में वह असफल है। इस सिद्धान्त से तो मतभेद हो सकता है कि लेखक के जीवन की राह से उसके साहित्य पर विचार करना समीचीन है या नहीं, उसके जीवन की घटनाओं का मिलान उसके साहित्य में बैठाना टीक है या नहीं; पर इससे मतभेद कम है कि साहित्य की राह से हम लेखक के जीवन की झाँकी ले सकते हैं, उसके साहित्य में उसके जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। गुप्तजी का हृदय शुद्ध वैष्णव-तत्त्वों को लेकर बना है, वे सगुण रामभक्त वैष्णवों की परम्परा में आते हैं। वे तुलसी की तरह सबसे 'धाय' कर मिलना चाहते हैं; क्योंकि "ना जाने केहि रूप में नारायण मिल जायँ।" वे नहीं चाहते कि लोग उनसे मिलने के लिए धावें। इसीलिए आप देखेंगे कि उनकी कथा में प्रवृत्ति है कि वह लोगों को किसी आकर्षण में बाँधकर अपने चारों ओर चक्कर काटते रहने देने का उपक्रम नहीं करती। वह स्वयं ही, हाँ अपनी शक्ति और परिधि के अनुसार, लोगों के पास दौड़कर पहुँच जाती है। तुलसी का "श्रुति सम्मत हरि भगति-पथ, संयुत बिरति बिवेक" था। वे समाज-सुधार अवश्य चाहते थे और उनसे बढ़कर किसने समाज की रक्षा की। पर वे परम्परा को तोड़कर अन्धकार में कूदना नहीं चाहते थे, वे वर्तमान जीवन-प्रवाह को अतीत परम्परा के मेल में बहते रहने देखना चाहते थे। वही काम गुप्त जी अपने उपन्यास के द्वारा करते हैं। उनके उपन्यासों में गुरु-गंभीर पांडित्य की प्रखरता नहीं है, कूटनीतिज्ञ की चालबाज़ी भी नहीं, जो मौक़ा पा विपक्षी पर गोलाबारी आरम्भ कर देता है। शायद वे निरसहाय भी हैं; फिर भी अपने कर्त्तव्य से पीछे नहीं रह सकते, केवल राम का बल है, उसी के सहारे जो कुछ प्राप्त है प्राप्त हो जायेगा। वे विपत्तियों को विपत्ति नहीं समझते। वे विपत्तियों का उपचार सम्पत्ति में नहीं समझते। वे विपत्तियों को विपत्ति से दूर करना चाहते है। इसी से आप देखेंगे कि उनके उपन्यासों में पात्रों पर जब कोई विपत्ति आ पड़ती है तो उनके दर्द को रोकने के लिए कोई सुखदायक घटना की योजना नहीं की जाती। वहाँ उससे भी एक अधिक दुःखदायक विपत्ति की योजना की जाती है, जिसके सामने पहली विपत्ति भूल जाय। जमुना चातक की तरह जिस पति की आशा लगाये बैठी थी वह आकर चला जाता है। जब उसे पता चलता है, वह दुःख के समुद्र में डूब जाती है। इधर इस दुःख में डूबी ही थी कि हल्ली बीमार पड़ जाता है और उसके उपचार में संलग्न होकर दीन-दुनिया सबको भूल जाती है। लेखक कहता है "विपत्ति के ऊपर ही विपत्ति आती है। उसमें भी कुछ अर्थ है। रेखा के सामने

दूसरी रेखा खींचे बिना पहली हलकी नहीं पड़ती। जमुना की पहली दुःख-रेखा छोटी हुई हो या न हुई हो, पर यह ठीक है उसका समस्त ध्यान दूसरी पर ही केन्द्रित हो गया था।" इसी तरह 'गोद' या 'अंतिम आकांक्षा' में भी इसी तरह की घटनाएँ आती हैं और पात्रों के जीवन को थामे रहती हैं।

गुप्त जी भारतीय आर्य-सभ्यता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। उनकी प्रत्येक पंक्ति में उनके सात्विक, और भगवान् की महिमा में अटूट विश्वास रखनेवाले हृदय का प्रतिबिम्ब मिलता है। वे बाह्य आडम्बर में क़तई विश्वास नहीं करते। जमुना पार्वती, सोना इत्यादि बंसी, शोभाराम, रामचन्द्र, भाटे, चाहे कोई हो सबका हृदय पारदर्शक शीशे की तरह साफ़ है। यदि उनके हृदय में करुणा, दया और माया है तो वह साफ़ दिखलाई पड़ती है अथवा यदि क्रूरता या कायरता है तो भी साफ़ दीख पड़ती है। सच पूछिये तो आज के पाठक को यही बात खटकती भी है। वह चौंककर कहता है कि अरे जीवन इतना सुलझा हुआ है ? मनुष्य इतना सीधा-साधा है ? हमतो पाते हैं कि जीवन ऐसी जगह है जहाँ मानो सूत्रों का एक वृहत जाल आपस में मिलकर इस तरह उलझ गया हो जिसका ओर-छोर मिलना कठिन है। यही कारण है कि आप आज के कथाकार को एक बन्द कोठरी में रात्रि के अंधकार में एक बड़े ही सशक्त हज़ारों कंडिल पॉवरवाले बल्व के नीचे बैठकर उस गाँठ को सुलझाते हुए पायेंगे। उसके उपन्यास में ब्लास्ट फ़रनेस का प्रकाश होगा, उसमें एक ही जगह पर उन्मत्तता से नाचनेवाले बगूले का चक्कर होगा, उसमें चीर-फाड़ होगी, उसमें किसी वस्तु को पालेने की तड़प होगी, आकाश और पाताल के कुलावे को एक कर देने के का भगीरथ प्रयत्न होगा। पर गुप्त जी का दुनिया ही दूसरी है। वहाँ कोई सूत्र उलझे नहीं हैं, नाभि में ही कस्तूरी है। बस धीरे, चुपके से पा लेने की आवश्यकता है, और उसके लिए तूल-तवील की कोई आवश्यकता नहीं है। पंत जी के शब्दों में

कँप-कँप हिलोर रह जाती,
रे मिलता नहीं किनारा।
बुद्-बुद् विलीन हो चुप के,
पा जाता आशय सारा॥

गुप्त जी के उपन्यासों में ध्यान देने पर एक आध और स्वर सुनाई पड़ जा सकते हैं; पर यही उनका सबसे प्रधान स्वर है, उनका 'व्यंग्य' है। अछूतोद्धार के प्रति उनकी सहानुभूति, अहिंसा के प्रति आस्था, समाज के उच्च वर्गवालों का

दम्भ, स्वदेश-प्रियता की भावना अवश्य हैं पर वे संचारियों की तरह उठ-उठकर स्थायी को सहायता दे और पुष्ट कर विलीन हो जाती हैं। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचार करें तो हम गुप्त जी के उपन्यासों के साथ न्याय कर सकेंगे। हम रात्रि के निविड़ अन्धकार पर बिजली के लट्टुओं द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न भले ही करें; पर तारों और चन्द्रमा के स्निग्ध प्रकाश के महत्त्व को भूल नहीं सकते।

'नारी' उपन्यास में 'अवश्य' ऊपर कहा गया है, थोड़ी नई रोशनी का रंग आता-सा दिखलाई पड़ता है। पर यहाँ पर भी गुप्त जी की वैष्णव-निष्ठा, हृदय की निर्मलता और भक्त की निरीहता उनका पीछा नहीं छोड़ती। जमुना उस जाति की स्त्री है, जिसमें पति के जीवन-काल में भी उसके साथ निभ नहीं सकने के कारण दूसरा घर कर लेना वर्जित तथा निंदनीय नहीं समझा जाता। फिर यहाँ तो जमुना के पति की वर्षों से कुछ खबर नहीं मिली थी। जो कुछ उसके सम्बन्ध में खबर मिलती थी उससे यही प्रमाणित होता था कि वह अब संसार में नहीं है। अजीत उसके साथ घर बसा लेने का प्रस्ताव करता है। पर वह अस्वीकार करती जाती है। पर जब वह देखती है कि अजीत उसके लिए कितना दुःख उठा रहा है, हल्ली को खोजने के लिए अपनी जान को जोखम में डालने के लिए तैयार है तो वह आर्द्र हो जाती है और कहती है "तुमने एक बार घर बसाने को कहा था न। घर बसा लेना तुम्हें मंजूर हो तब जाओ।" पर किसी की परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठाना, किसी को फेर में डालकर या उसके फेर में पड़ जाने की अवस्था में कोई ऐसा काम करना जिसमें स्वार्थ और अनौचित्य की गंध आती हो, गुप्तजी का अजीत नहीं कर सकता। यह घोर हिंसा है और गुप्त जी के हृदय की सत्य-अहिंसा की कुछ बूँदें तो अजीत पर पड़ी ही थीं। वह कहता है, मैं भला आदमी नहीं हूँ पर इतना खोटा भी नहीं कि ऐसे में कोई बात पक्की करा लेना चाहूँ।" यह त्याग की पराकाष्ठा है। भले ही उसके दमामे न बजते हों। यह मानवता और मानव-जीवन की विजय है। दूसरी ओर 'अश्क' जी की 'गिरती दीवारें' के चेतन की ओर देखिये। जिन परिस्थियों में एक निरीह और फूल-सी कन्या 'नीला' का बूढ़े विधुर तीन-तीन बच्चों के पिता के चरणों पर बलिदान किया जा रहा है उस समय चेतन को थोड़ी-सी तसल्ली ही होती है। कारण नीला के तन पर उसका अधिकार भले हो जाय पर मन 'जीजा जी' का ही रहेगा। पर जब वह मदन-शर-हस्त उसके भतीजे को देखता है तो उसका दिल बैठ जाता है कि हाय अब उसको ऐसे प्रति-

स्पर्द्धा का सामना पड़ा जो उसे परास्त कर देगा। यहाँ तक कि अपनी पत्नी के गर्म गदराये शरीर से सटकर भी वह स्वच्छन्द यौन-सम्मेलन के सम्बन्ध में विचार कर रहा है। इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्व में जो है वह दो विभिन्न सृजन-शील मानसों की विभिन्नता है। एक शरद पूर्णिमा की निर्मल ज्योत्सना है जो भयानक-से-भयानक स्थल यहाँ तक कि श्मशान को भी छूकर स्निग्ध चमत्कार से पावन कर देती है, दूसरी प्रलय सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला है जो सागर को भी भाप बनाकर उड़ा देती है, एक नतमस्तक विनयावनत भक्त है, दूसरा.... उद्ग्रीव...क्रान्तिकारी।

ऊपर की बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सियारामशरण जी के कथा-साहित्य पर गाँधीवाद के सत्य और अहिंसा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और इस प्रभाव का दर्शन उसके आन्तरिक और वाह्य अर्थात् विषय-निर्वाचन तथा उसके वाह्य कलेवर दोनों में पाया जा सकता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी सत्य और अहिंसा के प्रति इतनी गहरी आस्था नहीं दिखलाई पड़ती। गाँधी जी के नाम से भारत के राजनीतिक आन्दोलन और उसकी उग्रता कुछ इस तरह संबद्ध हो गयी है कि उन्हें इन हलचलों से अलग देखना कठिन हो जाता है; पर वास्तव में वे संतों की परम्परा में आते हैं। जीवन को सहज भाव से स्वीकार करनेवाले—कहीं भी विरोध नहीं, कहीं भी निषेध नहीं, भारी-से-भारी विरोध को भी अपनी सहजता से हल देनेवाले। यह सहज भाव उपन्यास में देखना हो और आप मुझसे कहें कि हिन्दी का कोई उपन्यास बतलाइये तो मैं सियारामशरण जी के उपन्यास की ओर संकेत करूँगा, प्रेमचन्द की ओर नहीं, जैनेन्द्र की ओर भी नहीं। यदि आप जोश-पसंद हैं और जोश-अफ़ज़ाई के मज़े लेने के लिए ज़िन्दगी के सुरूर का जाम पीने के लिए उपन्यास पढ़ने की ओर अग्रसर होते हैं तो आपको यहाँ निराशा होगी। और आप को यहाँ निराशा होगी तब जब आप अपने अहं को किसी पात्र के अहं पर चढ़ाकर विश्व पर छा जाना चाहते हैं। आप इसके लिए 'अज्ञेय' के पास जाइये। उनका शेखर आपको विश्व को समेट लेने में थोड़ी सहायता करेगा। यदि मानसिक गुत्थियों की ऊहापोह करने में आपको आनन्द आता हो अथवा आप मनुष्य को अर्थ-शास्त्र के हाथ की कठपुतली समझते हों और जीवन में रहस्यों अथवा विषमताओं को उस तरह सुलझाना चाहते हों जिस तरह ताले को निर्जीव कुंजी खोल देती है तो गुप्तजी आपके चित्त का समाधान नहीं कर सकते। इसके लिए इलाचन्द्र अथवा यशपाल अधिक कारगर हो सकते

हैं। पर यदि आप राम का नाम लेकर 'एक भरोसे एक बल' के सहारे गणेश जी के मूषक की तरह सब देवताओं से भी लोक की घुड़दौड़ में बाज़ी मार लेना चाहते हैं तो मैं आपको गुप्त जी के उपन्यासों को पढ़ने के लिए आमंत्रित करता हूँ।



सियाराम जी की ग्यारह कहानियाँ

[प्रभाकर माचवे]

काण्ट के अनुसार सौंदर्य दो प्रकार का होता है : एक तो शुद्ध रूपात्मक सौंदर्य जैसे कि सोना या सीप या मेहराब देखकर हमें प्रतीत होता है, दूसरा प्रातिनिधिक सौंदर्य जिसमें किसी जीवित या अन्य वस्तु की प्रतिकृति हो। सियारामशरण गुप्त की कहानियाँ पढ़कर हमें प्रथम श्रेणी की सौंदर्यानुभूति नहीं होती, परन्तु द्वितीय प्रकार की अनुभूति अवश्य होती है। चूँकि उनकी कला में एक स्पष्ट सोद्देश्यता लक्षित है—कभी-कभी वह अभिनिहित न रहकर बाहर उभर भी आती है—अतः उनकी कहानियों के उद्देश्य की चर्चा पहले करनी चाहिये।

खंड काव्य—उनकी कहानियों का उद्देश्य स्पष्ट है कि केवल मनोरंजन अथवा भाव-निवेदन नहीं है। जबकि कविता का माध्यम अधिक भाव-प्रधान होता है, उसमें भी 'मौर्यविजय' 'आत्मोत्सर्ग' या 'नकुल' जैसे वस्तु-कथावाले और 'अनाथ जैसे काल्पनिक-सामाजिक खण्डकाव्यों में सियारामजी ने अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति को नहीं छिपाया है। गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान पर लिखित और प्रथम बार 'सुधा' में मुद्रित यह लम्बी पद्य-कथा, किशोर पाठकों को (मेरे अनुभव से मैं कहता हूँ) अवश्य रुला देगी। उसमें वे कहते हैं :

राम-खुदा के पाक नाम पर करके शैतानों के काम,
क्या शहीद हो सकते हैं हम उस मालिक के नमकहराम ?
ऐसे हिन्दू-मुसलमान से मैं 'मलेच्छ-क़ाफ़िर' ही खूब;
मन्दिर-मसजिद से पहले है मुझ में ही मेरा महबूब !

[आत्मोसर्ग, ८३]

यही जाति-दल-वर्ण से परे की विशुद्ध मानवता का कल्याण उनका साध्य है, करुणा साधन ! 'अनाथ' में अछूत पर होनेवाले अत्याचार, बेगार से बँधकर तपती धूप में उसका तड़पना स्पष्टतः सामाजिक विषमता की ओर संकेत करता है।

परन्तु वे हिंसक समाज-क्रांति में विश्वास नहीं करते। वे अहिंसक हृदय-परिवर्तन में और इस प्रकार समाज की प्रत्येक बुराई के सुधार से समूचे समाज के सुधार में विश्वास करते हैं।

यही आदर्श अहिंसक पद्धति उन्होंने 'उन्मुक्त' नामक कथा-खंडकाव्य में तत्कालीन द्वितीय महायुद्ध से पीड़ित होकर निरूपित की है। गुजराती के कवि उमाशंकर ने भी युद्धकाल में रचित 'विश्व-शांति' नामक मुक्त काव्य में और मराठी के जोशी ने 'विश्वमानव' नामक कथा-काव्य में इसी प्रकार से गाँधी-नीति-परक शांति का स्वप्न देखा है और उसे यथार्थ के संघर्ष का हल बताया है। 'उन्मुक्त' में एक विराट कल्पना है और आदर्श समाज रचना की ओर अंगुलि-निर्देश है।

महाभारत के कथानक पर आधारित 'नकुल' में भी सियाराम जी ने यही समस्या रखी है। सन् ४७ में लखनऊ रेडियो से इसकी समीक्षा करते हुए मैंने स्पष्ट किया था कि इस काव्य में कैसे महाभारत के मूल कथानक से सियाराम जी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कथा को ज़रा-सा चित्र रूप देते हैं।

चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता की दृष्टि से यह काव्य हिंदी में अनूठा है।

कथा-काव्य—परन्तु खंड काव्यों से भी अधिक चमत्कारपूर्ण हैं सियारामजी की 'मृण्मयी' और 'आर्द्रा' में प्रकाशित पद्य कथाएँ। जैसे 'मंजुघोष' 'खादी की चादर' 'एक फूल की चाह' 'डाकू' 'चोर' 'डाक्टर' आदि। इन कथाओं में जहाँ कहीं-कहीं परंपरित लोक-कथाओंका अथवा वास्तविक घटनाओंका भी आधार है, वहाँ कल्पना द्वारा उनपर कलम लगाया गया है और उनकी भी तराशी खासी की गयी है। उदाहरणार्थ 'आर्द्रा' में 'चोर' नाम का कहानी हमारे आपके हरएक जीवन में घटित होती होगी, परन्तु उसमें परितल की पुट कवि की अपनी है। वही संवेदना उसमें काव्यत्व भरती है। दयामयी नामक नयी विधवा नौकरानी पर सन्देह है कि वह चोर है। एक दिन घर का स्वामी (मैं) उमा को गिन्नियों की ढेरी देकर काम पर गया, शाम को आने पर पता चला कि एक गिन्नी कम है। सन्देह पुष्ट हुआ। दयामयी को निकाल दिया गया। बाद में धोबी के पास से जब कपड़े लौटे तब जाना गया कि एक गिन्नी गलती से जेब में ही रह गयी थी। मैंने पश्चात्ताप से दग्ध होकर दयावती को लौटाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका पता न चल सका। उसी प्रकार 'डाक्टर' कहानी में डाक्टर की पत्नी कहीं आठ-दस कोस पड़ोस में उत्सव में गयी है। एक गँवार बेतवा की

खर धारा में बहता हुआ एक प्रेत देखकर उनके पास उसे देखने के लिए बुलाने दौड़ा आया, डाक्टर फ़ोस पर ऐंठ गये। बाद में पता लगा वह मालकिन की ही लाश थी। जार्ज इलियट के 'मिल आव दि फ्लार्स' का सा भयद अंत है। परन्तु प्रकार नियति-चमत्कार, मरण और ऐसी ही संभवनीयता का मसाला लेकर सियाराम जी जीवन में मानवता की आस्था को ही गाढ़ा बनाना चाहते हैं। जैसे 'डाकू' पद्य-कथा में वे कहते हैं उसी अदम्य जीवनाशा से जिससे रोदां ने 'बर्ग्लर्स आफ फ्रांस' बनाये होंगे—

उड़ाकर मेरे ऊपर कीच,
मुझे जो कहते फिरते नीच,
जरा देखें वे अपनी ओर,
सुधार्मिकता कह अपनी घोर,
हड़पकर औरों के घर-द्वार,
नहीं लेता जो कभी डकार,
निरस्त्रों हतभागों का खून,
पिलाता है जिसको क़ानून,
धान्य-धन तिजोरियों में डाल,
बद्ध रखता जो शान्ति-सुकाल। [आर्द्रा २४-२५]

कहानियाँ

सियारामजी की गद्य-कहानियाँ बहुत अधिक नहीं हैं। सब मिलाकर मुझे 'मानुषी' संग्रह की, और 'प्रतीक' द्वैमासिक के दूसरे तीसरे और सातवें अंक में ३—ऐसी कुल ग्यारह कहानियाँ प्राप्त हुई हैं। 'त्याग' कहानी पर तिथि नहीं है। इस प्रकार 'कष्ट का प्रतिदान' संवत् १९८५ अर्थात् बाईस वर्ष पुरानी, और अन्य छः कहानियाँ बीस-इक्कीस बरस पुरानी हैं। 'प्रतीक' वाली तीन कहानियाँ: 'चुक्खू' 'प्रेत का पलायन' और 'रामलीला' दो-तीन वर्ष पुरानी। इस बीच में सियाराम जी ने कविताएँ लिखी, खंडकाव्य और 'बापू' जैसे दार्शनिक ओड भी लिखे, नारी जैसा हिन्दी का 'एकमेवाद्वितीयम्' उपन्यास लिखा; 'झूठ-सच' के बेजोड़ लघुनिबंध भी लिखे; पर कहानी जैसे छूट गयी। क्या ही अच्छा होता यदि वे और कहानियाँ लिखते। इन ग्यारह कहानियों में विकास-क्रम देखना असंभव है।

शैली—चिरगाँव में एक बार बातचीत के सिलसिले में सियाराम जी ने मुझे बतलाया कि वे अपने कथानक पहले से योजना करके मन में या काग़ज़

पर नक़्शे की तरह खींचकर नहीं रखते। 'नारी' लिखते समय वे अगले अध्याय में क्या होगा इसका पहले से विचार नहीं करते थे। जैसे-जैसे सूझता गया लिखते गये। लेखन स्वयम् अपनी दिशा बनाता चला। इस स्वाभाविक शैली के कारण उनकी कहानियों में बनाव-सँवार नहीं है। टेकनीक के प्रयोग वे नहीं करते। सीधे कहानी कह देना चाहते हैं। इससे उनके ढंग में एक रवानी है, एक हार्दिकता है। वही उसकी मनोवैज्ञानिक सफलता की कुञ्जी है।

मनोवैज्ञानिकता का एक नमूना पढ़िये। बैल की बिक्री करके शिव लौट रहा है और सोचता है—

'बार बार उसे बैल की सूरत याद आती। उसके ध्यान में आता, मानो बिदा होते समय बैल उदास हो गया था। उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे! बैल का विचार दूर करता तो बाप का सूखा हुआ चेहरा सामने आ जाता। बैल और बाप मानो एक ही चित्र के दो रुख़ थे। लौट-फिरकर एक के बाद दूसरा उसके सामने आ जाता था। आः उसका बाप इस बैल को कितना प्यार करता था! उसे अनुभव होने लगा कि वह बैल उसका भाई ही था। एक ही पिता के वात्सल्य-रस से दोनों पुष्ट हुए थे।

[बैल की बिक्री: पृष्ठ ८४]

और इससे भिन्न प्रकार की शैली का एक नमूना है—

भवानी तुम्हारा यह आवेश भी बहुत सुन्दर ज्ञान पड़ता है। इसमें उत्ताप है, परन्तु निदाघ का नहीं, हेमन्त की अग्नि-शिखा का।

[मानुषी : पृष्ठ ४]

वे स्वयम् पृष्ठ १२ पर 'मानुषी' में लिखते हैं:—

हृदय को समझने के लिए हृदय की बात ही यथेष्ट होती है। वहाँ तर्क का प्रवेश निषेध है। इससे उनकी कहानियाँ कभी-कभी अतर्क्य हो उठी हैं।

भाषा—सियाराम जी की भाषा में, एक सहज, ऋजु, प्रसन्न प्रवाह है। वे शब्दों के लिए कहीं नहीं रुकते। इसी से प्रसाद की भाषा की तरह क्लिष्ट कृत्रिमता नहीं है और न ही 'उग्र' की तरह शोख़ी और चुलबुलाहट का प्रदर्शन। उनमें पर्याप्त 'विट्' है, चित्रमय शब्द-योजना है, प्रादेशिकता भी है। बुन्देली शब्द यथा 'उसारना' आदि का जहाँ प्रयोग मिलता है, वहीं कुछ मुहावरे भी हैं जैसे 'दोपहरी झरझरा रही थी, 'उठा-धरी कर रही थीं'।

[पृष्ठ ५]

और कुछ अनूठी उपमाएँ देखिए :

वह उस पहाड़ी भूमि जैसी थी, जो ऊपर से वज्र के समान कठोर होती है और थोड़े ही भीतर से मीठे पानी का झरना बहाती है। [पृ० ५०]

काल के थोड़े-से आघात से ही, आँखों में अन्धेरा भरकर यह (झोंपड़ी) किसी वृद्धा की तरह पृथ्वी पर बैठ जाने की सोच रही है। ऊपर की मिट्टी ने खिसककर स्थान-स्थान पर भित्तियाँ विषम कर दी हैं, मानों उसमें झुर्रियाँ पड़ गया हों। [पृ० ३]

जिस प्रकार धरधराहट के साथ चलती हुई रेलगाड़ी के यात्री की नींद गाड़ी के रुकते ही उचट जाती है उसी तरह इस शांति में मेरे मन की शांति भंग हो रही थी।' [पृ० ६०]

चलती हुई पिचकारी के ऊपरी रंध्र को सहसा हथेली से दबा देने पर जिस तरह इधर-उधर की अनजान सन्धियों से जल ज़ोर के साथ निकल पड़ता है, उसी तरह आज ज़रा-ज़रा-सी बात पर उनका आनन्द फूटा पड़ता था।' [पृ० ३]

इस प्रकार उनमें का कवि उनके कहानीकार के पीछे से कभी-कभी झाँकता हुआ दिखाई देता है। परन्तु कवि कहानीकार पर कभी हावी नहीं होता। बल्कि कहानीकार ने ज़रूर उनके कवि को कई बार पछाड़ दिया है।

कथोपकथन

सियाराम जी अपनी कहानियों में कहीं-कहीं कथोपकथन चिन्ह ("—") नहीं लगाते। फिर भी जहाँ-जहाँ संवाद का प्रयोग करते हैं, वह पर्याप्त नाट्यात्मक होता है। अन्यथा इतिवृत्त से ही काम चला लेते हैं जिसमें अप्रत्यक्ष कथन ही अधिक होता है, जैसे—

१. शंकर—प्रस्तर-प्रसूते, मैं कहता हूँ, भीतर बहुत कुछ है। तुम स्वयं देख लो ना।

   पार्वती—मैं प्रस्तर-प्रसूता हूँ, मेरी बुद्धि ही कितनी। [मानुषी, पृ० ४]

२. उसका प्रश्न था—कविकर्म की सार्थकता मेरे मन में कहाँ है?

   मैंने बताया—प्रेम में।

   अपने प्रेम को स्पष्ट कीजिये, तभी समझ में आयगा। क्या किसी लड़की को देखकर उसके पीछे चक्कर काटना, यह भी प्रेम है?

'मैं कोई कारण नहीं पाता कि इसे प्रेम न कहें।'
'तब मैं तुम्हारी असलियत समझ गया।' (प्रेम का पलायन पृ० ६२)

३. 'निकल जाओ यहाँ से !'
'मुझे निकालने वाले तुम कौन होते हो !'
'मैं—मैं राम हूँ !'
'ऐसे राम बहुत देखे हैं, कहो तो एक धक्के में सात गुलाँटे खिला दूँ !'
[रामलीला पृ० ४३]

४. बोली—कहाँ का रुपया, कैसा रुपया ?
कल मुझे मजूरी मिली थी ।
तो मुझसे क्या कहते हो ? उस हरजाई से जाकर पूछो—जहाँ रात बिरमे थे।
···जाते समय कह गई—अब कभी इस घर में पैर दूँ तो मरे मानस का मांस खाऊँ। (रुपये की समाप्ति पृ० ५१)
इन कथोपकथनों की चुस्ती पर विशेष टिप्पणी अनावश्यक है।

कथानक—अतर्क्यता की बात मैं ऊपर कह चुका हूँ। कथानक की पूर्वरचना के अभाव में कभीं-कभी उनमें अनावश्यक विस्तार और बिखरन आ जाती है। और कहीं-कहीं अस्वाभाविकता भी। मानुषी में 'काकी' और 'त्याग' जितने स्वाभाविक जान पड़ते हैं उतने 'कष्ट का प्रतिदान' या 'पथ में से' नहीं। वेश्या की गली में भूल से गया व्यक्ति सिर की टोपी गिर पड़ने से, यह टोपी माँ के हाथों कते सूत से बनी है इसी कल्पना मात्र से, परिताप-विदग्ध लौट आता है। यह उत्कट मातृप्रेम का नमूना चाहे हो, परन्तु स्वाभाविक घटना नहीं जान पड़ती। वैसे माता को दिये हुए वचनों ने गांधी जी को विलायत के लालघर के आकर्षणों से अछूता रखा अवश्य था। परन्तु जब हम जनसाधारण की कहानी लिखते हैं, तब उस प्रत्येक मानव को गाँधी मान लेना या उस हद तक पहुँचा देना कुशल कथाकारिता नहीं। उसी प्रकार से आचार्य केशव और उन्हें 'बाबा' कह जाने वाली 'राका' की प्रणय-कथा में दांते बिएत्रिस कासा भाव निर्माण कर 'प्रेत का पर्यटन' भी बहुत खींचा-तानी से बने कथानक पर आश्रित कथा जान पड़ती है। 'कष्ट का प्रतिदान' में जो घटना है, वह स्वाभाविक होते हुए भी, कथा में पताका प्रसंग लाने में इतनी तीव्र और महत्वपूर्ण नहीं। यह दो-तीन कहानियाँ छोड़कर अन्य कथाओं में शिव-पार्वती या चातक-

पुत्र का लाना कथानक में सौन्दर्य की ही अभिवृद्धि करता है। अतः कथा में स्वाभाविकता अस्वाभाविकता वस्तु के चुनाव में उतनी नहीं जितनी कि उसके चमत्कारपूर्ण प्रयोग में निहित है। कल्पना वैसे सभी मिथ्या है, परन्तु कथाकार उसे सत्यप्राय बनाकर प्रस्तुत करता है, इसी में उसकी विशेषता है। वैसे प्रत्येक कथाकार एक मनगढ़न्त बात ही तो कहता है, परन्तु उसमें गढ़न्त जितनी कम जान पड़े, उतनी ही कथा सब के मन की हो जाती है। सियाराम जी के अधिकांश कथानक सामाजिक परिपार्श्व में वैयक्तिक अनुताप के कथानक ही हैं।

सामाजिक व्यंग—अपनी कहानियों में, वर्णनों में, उपमानों में वे मीठी चुटकियाँ वर्तमान समाज पर अवश्य लेते जाते हैं। उनका व्यंग विदारक नहीं होता, परन्तु अचूक और कुरेदने वाला अवश्य होता है।

'म्युनिसिपैलिटी की दरिद्र लालटेनें अपने ऊपर अंधकार का 'ग्लोब' चढ़ाकर टिमटिमा रही थीं।' (पृ. ६६)

या

'कठोर से कठोर मिल-मैनेजर मजदूरों से जितना काम लेता है, अपने शरीर से वह उससे भी अधिक परिश्रम लेती।' (पृ. १६)

या

'यात्रियों में देश की समस्याओं पर गम्भीर विचार हो रहे थे। न जाने कितने प्रस्ताव-उपप्रस्ताव उपस्थित किए जा चुके थे, कितने ही नेताओं पर पुष्पवृष्टि हो चुकी थी और कितनों ही की नेतागिरी की सनद ज़ब्त। स्वराज्य-आन्दोलन के सम्बन्ध में वाद-विवाद का रूप उग्र हो उठा। स्वराज्य का विरोध जिस तेज़ी से हो रहा था, उसे देखकर रामनारायण को आनन्दित ही होना चाहिये था। देश के भीतर इतना ओज और उत्साह संचित है, फिर निराशा का कार्य क्या? पर वे उस उत्साह और ओज को परास्त करने में जुटे थे।'

(पृ. ३३)

या

'आपने तो इस लोक के नरेन्द्रों को भी मात कर दिया, जिनके सामने की प्रजा 'त्राहि-त्राहि' करती रहती है, परन्तु उनके कानों का मधु-संगीत किंचिन्मात्र भी कुंठित नहीं होता। आज मालूम हो गया, इस लोक में इतना दुख-द्वंद्व क्यों है।' (पृ. ४)

या

'रामदेव 'टाट' कहकर मेरे खद्दर की हँसी उड़ाता था। खद्दर मेरे लिए वह चटपटा भोजन हो गया था, जो अपनी तीक्ष्णता के कारण आँखों में आँसू लाता है, फिर भी जीभ से छोड़ा नहीं जाता। केवल खद्दर के कारण इधर-उधर की जो श्रद्धा प्राप्त थी, वह आसानी से नहीं छोड़ी जा सकती थी।' (पृ. ६८)

सुधारवाद—उनकी कहानियों में सबसे उभर कर ऊपर उठने वाला प्रधान स्वर है समाज सुधार की लालसा। जैसे शिवजी कहते हैं : ऊबना विरक्ति जन्य है- और उत्कण्ठा आनन्द-जन्य' (पृ. १०)—उसी प्रकार से समाज की की विरक्तियों पर सियारामजी खीझते-झल्लाते या रीझते-फिसलते नहीं। न वे उससे आँखें मूँद लेना चाहते हैं। वे उन्हें जानते हैं और सोचते हैं कि मानव का व्यक्तिगत सुधार भीतर से जबतक न होगा समाजसुधार उपर से लादना व्यर्थ है। इसी बात से उनकी कहानियाँ आशावदासे पूर्ण हैं।

मनुष्य की भलमनसाहत पर उनका विश्वास अटूट है—

'यह ठीक है पक्के रँग में रँगा हुआ काला कपड़ा सफेद नहीं हो सकता; परन्तु यह भी बेठीक नहीं है कि पानी में धोने से, और कुछ नहीं तो, उसका मैल ज़रूर छूट सकता है।' (पृ. ७०)

एक कहानी का अन्त है—

उसी दिन अच्छे चौखटे में जड़कर महावीरजी का चित्रपट वहाँ लटका दिया गया और अद्‌भुत आत्मा के कल्याण के लिए सेंदुर से चारों ओर महामंत्र 'श्रीराम श्रीराम सीताराम' लिख दिया।' (पृ. ६६)

आत्मालोचन का यह क्षण—

'मनुष्य अपने विषय में जितना अज्ञान है उतना शायद अन्य किसी विषय में नहीं है।' (पृ.८४)

और यह निश्चय की दृढ़ता—

'कमजोरी के ऊपर से ही आक्रमण करना विजय की पहिली सीढ़ी है।' (पृ. १८)

चातक चातक-पुत्रों से कहता है—

'हमारी प्यास के साथ करोड़ों की प्यास है, और तृप्ति के साथ करोड़ों की तृप्ति। तुझसे अकेले तृप्त होते कैसे बनेगा?' (पृ. १००)

बुद्धन कहता है—जिस तरह चातक अपने प्राण देकर भी मेघ के सिवा किसी दूसरे का जल लेने का व्रत नहीं तोड़ता, उसी तरह तू भी ईमानदारी की टेक न छोड़ना...सदा ऐसी ही मति रखना।

बाल-स्वभाव-चित्रण—स्वयम् बाल-स्वभाव होने से सियारामजी के सबसे मधुर चरित्र हैं बालक। 'चुक्खू' स्वभाव चित्र में भी उसके बाल्य का, सहपाठी होने का स्मरण उन्हें विशेष रूप से हो आता है।

'मेरे लिए ऐसे लड़के का साथ अवांछित समझा जाता था। इसी से साँझ के समय जब एक दिन उसके साथ नदी की सैर को चल दिया तब मैंने घर में न तो किसी की अनुमति ली और न इसके लिए किसी को सूचित कर देना ही आवश्यक समझा। ऊबड़-खाबड़ रास्ते से नदी गाँव से डेढ़ कोस से कम दूर नहीं है। चुक्खू का कहना था—चलो अभी तो लौटते हैं। उसका अनुमान उसके स्कूल के हिसाब जैसा ही ग़लत निकला। बहुत देर अनुपस्थित रहने के कारण उस दिन मुझे कम नहीं पिटना पड़ा। दूसरे दिन अपना गाल, जो उस समय भी लाल रहा होगा, दिखाते हुए उससे मैंने कहा—तुम्हारे कारण ही कल मेरी ऐसी गत बनी ! उसने उत्तर दिया था—नदी के लिए मार-पीट भी न सह सके तो तुमसे बनेगा क्या ! नदी माता होती है !' (चुक्खू : प्रतीक २. पृ. ६८)

इससे भी अधिक सजीव स्केच हैं काकी और रामलीला। बच्चे लड़ते हैं। फिर लड़ाई भूलकर सहज मित्र कैसे बन जाते हैं—'यह उतना ही स्वाभाविक था, जितना कुछ देर के लिए बादल में छिपकर सूर्य पुनः अपने ही ठिकाने पर चमकने लगे।' उस कहानी में राम, लक्ष्मण, रावण हनुमान और सीता के बालचरित्र बहुत ही प्यारे बन पड़े हैं। इन बालकों से बड़ों को बहुत कुछ सीखने योग्य है। मराठी लघुकथा-लेखक य०गो०जोशी ने 'पुनर्भेंट' में ऐसे कुछ बालकों का चित्रण किया है, या फिर रवींद्र की कुछ कहानियों में जैसे 'एक था राजा—'।

प्रकृति-चित्रण—भावानुकूल और रसानुकूल शब्द-चित्रण सियारामजी की अपनी विशेषता है :

'रुपये की समाधि' कहानी में एक चित्र है—सावन का महीना था, हवा में शीतलता आ गई थी। जहाँ तक दृष्टि जाती थी हरियाली और जल ही जल था। आकाश में सुहावने बादल छाए हुए थे। कोकिल की 'कुहू-कुहू' और

पपीहे की 'पी-पी बार-बार कानों में अमृत चुवा रही थी। मैं आनन्द से भरा हुआ आगे बढ़ा चला जा रहा था...बरसात में तो सदा साँझ ही बनी रहती है। नदी बड़ी न थी। बरसात के कारण वह चढ़ आई थी। धनियों की कृपा की तरह वह आठ पहर से अधिक चढ़ी न रहती थी।...नदी किलोलें करती हुई बही जा रही थी। पानी अपने आपसे ही टकराता हुआ, उलझता हुआ, जो मन में आता वह कहता हुआ जा रहा था। कभी इधर आघात करता, कभी उधर। मैंने देखा—पागल है तो यह। उसका यह पागलपन मुझे बहुत अच्छा मालूम हुआ!' (मानुषी पृ. ६३-६४)

और उनकी कहानी 'रामलीला' का यह एक ग्रामीण वर्णन पढिए—

'बाड़े के पीछे आज जहाँ पक्का घर खड़ा है वहाँ उस समय एक लम्बी खपरैल थी। उसमें ढोर-डंगर बँधते थे। खुले में चारे की ऊँची गंजी लगती थी और एक ओर वहीं कंडे पाथे और सुखाये जाते थे।' (रामलीला प्रतीक ७ पृ. ४०)

वैसे आवश्यकता होने पर वे प्रकृति में भी मानव-भाव का आरोप करते हैं। यथा:—

'नीम की स्निग्धता तथा सघनता ने चातक पुत्रों को अपने निजी सहकार की याद दिला दी। विश्राम पाकर भी उसके जी में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। पकी निबोरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था।' (कुटीर; मानुषी पृ. १००)

'और यह वह रात थी, जो पूर्ण कलाधर को पूरा का पूरा निगलकर भी प्रकाश के लिए राक्षसीक्षुधा रखती है।' (पृ. ६६)

कथा और लघु निबंध के बीच—वस्तुतः 'रामलीला' आदि स्केच पढ़कर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन्हें स्केच कहें या लघुनिबंध या लघुकथा। 'झूठ-सच' नामक लेख-संग्रह में सियाराम जी के ऐसे कई प्रयोग हैं। वस्तुतः 'झूठ-सच' स्वयमेव एक कहानी-सी ही है। आधुनिक कथा-साहित्य में यह समस्या इसलिए और भी कठिन है कि पंत जी के 'पाँच फूल' का पीताम्बर पानवाला अथवा महादेवी की 'अतीत के चल-चित्र' की बूढ़ी नौकरानी या 'स्मृति की रेखाएँ' का चीनी कपड़ा बेचने वाला या 'प्रसाद' जी और विनोदशंकर व्यास के ऐसे ही चरित्र-चित्र या स्केच—चाहे वे पेंसिल में बनाये हलके रेखा-

चित्र हों, चाहे काली-सफ़ेद मोटी-मोटी रेखाओं में बनाए 'प्रोफाइल' या फिर निरे 'सिलहूट'; इन्हें कहानी कहाँ तक कहा जाय ? जैनेन्द्र कुमार की 'एक टाइप', 'सकिया बुढ़िया', 'मास्टर जी' जैसी कहानियाँ रवीन्द्रनाथ के 'काबुली वाला' या 'सुधा' की भाँति ही एक स्पष्ट व्यक्ति-चित्र हमारे सामने उभार कर रख देती हैं। परन्तु उस व्यक्ति-चित्र या संस्मरण में जब तक कोई ऐसी सार्वजनीनता नहीं होती कि मानव-स्वभाव के किसी विशेष मर्म पर वह अँगुली रखे, तब तक उसमें कहानीपन की सम्भावना कम है। विशेष नैतिक उद्देश्य से चुने जाने वाले चरित्र इसी प्रकार से एक पोस्टर का काम करते हैं, पोर्ट्रेट का नहीं। परन्तु कहानी की कला न पोस्टर है न पोर्ट्रेट—वह तो एक पूरा 'कांपोज़ीशन' है, एक 'पैनेल' है, जिसमें अनेक आकृतियाँ होती हैं; उनकी रचना किसी पूर्व-कल्पित संयोजना से होती है। उन दृष्टियों से ये सम्पूर्ण कहानियाँ नहीं; केवल कथा-खंड मात्र हैं।

कहानियों से प्राप्त होने वाला आनंद—इसीलिये सियाराम जी की कहानियाँ पढ़ते समय प्राप्त होनेवाला आनन्द भी बहुत कुछ लघु-निबन्ध को पढ़कर प्राप्त होनेवाले आनन्द के समान होता है। वह विशुद्ध कलानंद नहीं है। उसमें सात्विकता का आग्रह एक विशेष प्रकार के उदात्तीकरण का भी अनुबोध देता है। अतः रसज्ञ का कथा के साथ जो तादात्म्य होना चाहिये, उसका यहाँ अभाव है। रस की सहज-प्राप्ति—आत्म-विस्मृति-जन्य—यहाँ ईप्सित नहीं है। परन्तु जैसे कांट 'नैतिक इच्छा' से अपर दूसरी इच्छा को मानवी मानता ही नहीं था; उसी प्रकार से सियाराम जी भी शिव को ही सुन्दर मानते हैं। शिलर जैसे सुन्दर मात्र को शिवत्त्व से आरोपित करता था; सियाराम जी उससे उलटे शिवत्त्व को ही सुन्दर मानते हैं। गांधीवादी लेखकों की यही सबसे बड़ी विशेषता है; वे शिव से भिन्न सुन्दरता की कल्पना ही नहीं कर सकते। अतः मानवात्मा के वे ही स्थल उन्हें प्रिय और कला-विषय जान पड़ते हैं जो आनन्द के साथ-साथ उन्नयन की भी अनुप्रेरणा दें। जो मोद ही नहीं, बोध भी दें। हर्ष के संग उत्कर्ष की भी नियोजना करें। अत: जैसे पेय एक तो स्वादार्थ होता है; एक स्वास्थ्यार्थ—गांधीवादी कहानी लेखक स्वाद को गौण और स्वास्थ्य को प्रधानता देता है। अतः उसमें कभी-कभी पूर्व-परिचय के कारण नवीनता का अभाव भी मिल सकता है; तो कभी-कभी वस्तु-स्थिति पर एक विशेष प्रकार का आरोपण भी करना पड़ता है, जैसे केशव के गणिका-प्रेम के उज्जवल-पक्ष का 'प्रेत के पलायन' में।

कला और नीति—वैसे कला और नीति का द्वन्द्व चिरंतन है। जैसे सभी श्रेष्ठ कला नीत्युपरि (ˇ-मॉरल) होती है, वैसे ही सभी नीत्युपदेश कलात्मक नहीं हो सकते। वस्तुतः आचार-धर्म से बंधी हुई नीति के सदसद् के मूल्य बहुत कुछ मनुष्य और समाज की बाह्य संघटना पर समाश्रित होते हैं। यह संघटना परिस्थिति विशेष से परिवर्तनशील है। परन्तु कला इतनी क्षण-क्षण रूप-परिवर्तिनी नटिनी नहीं। कलानन्द नीत्युपदेश की हेतुमत्ता से अधिक स्थायी और टिकाऊ होता है। उसका उद्दिष्ट जितना गहरा होता है उतने ही उसके साधन भी सूक्ष्म और तल-स्पर्शी होते हैं। इसलिए नीति का महत्त्व उपयोगिता के मूल्यों से आँका जाता है; कला में उपयोगिता-अनुपयोगिता का मूल्य अपर्याप्त है। उदाहरणार्थ सियाराम जी की 'त्याग' कहानी ले लें। इसमें एक बालक भी बापू की आहार हड़ताल की घटना से प्रभावित होकर अपनी दाखें मुन्नी को दे देता है। घटना छोटी-सी है, परन्तु इसमें निहित तत्त्व काफी दूर तक जाने वाला और गहरा है। कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय में इसी बात को यों लिखा गया कि "इंद्रिय और उनके अर्थों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि या सत्त्व श्रेष्ठ है। सत्त्व से जगत् का बीजरूप महत् श्रेष्ठ है। महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है।" मूल सत्य यह है कि इन्द्रिय-भोग तो पशु में भी होते हैं। मनुष्य जहाँ इस प्राकृतिक प्रवृत्ति पर यम नियम से या शम-संयम से विजय प्राप्त करता है, वहीं मनुष्य बनता है। 'त्याग' का बाल-नायक ज्वरग्रस्त जयदेव दृढ़ता से कहता है—'हाँ, मुन्नी को ही दे दो! वह नासमझ है, मैं सब समझता हूँ।' यह समझ ही मनुष्य की अपनी निधि है। उसे खोकर मनुष्य में कला या नीति दोनों ही नहीं पनप सकते।

यही बात 'मानुषी' नामक कहानी की है। 'नारी' की नायिका जमुना की भांति यहाँ श्यामा भी स्वामी-भक्ति के सामने रत्न-कांचनादि ऐहिक मोहों को व्यर्थ समझती है। यही उच्चतर मूल्य हैं। मानवता इन्हीं से चलती है। ये ही ऐसी विभूतियाँ हैं जिन्हें भगवान् भी कुछ नहीं दे सकते। सियाराम जी इसीलिये लिखते हैं 'मानुषी' में पृष्ठ १७ पर—'जो वैर है, विरोध है, कुत्सित है—उसका जीवन इतना भी नहीं, जितना मनुष्य की क्षणभंगुरता का। अमर वही है, जो प्रेम है; सत्य है, सुन्दर है। तभी मृत्यु की छाया में इनका जीवन पहिले से भी अधिक उज्जवल हो उठता है।' भारतीय नारीत्व की इस निर्लोभ, अनसूया, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्यय निष्ठा का इतना सुन्दर चित्रण अन्यत्र कम मिलता है।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ पढ़ते समय हमें बरबस तालस्ताय का स्मरण हो आता है। जैनेंद्र की 'साधु की हट' ज़ाकिर हुसैन की 'अब्बू ख़ाँ की बकरी' और

सियाराम जी की 'बैल की बिक्री' जैसी कहानियाँ पढ़कर वही तालस्ताय के निर्मल अन्तःकरणवाले चरित्रों, पापी के हृदय परिवर्तन और अहिंसक मनोसंघर्ष वाली घटनाओं और सबसे ऊपर एक अडिग, अटूट आस्तिकपन की याद पुनः हो आती है। 'बैल की बिक्री' जब विशाल भारत में छपी थी, तभी से मैं उसे उनकी सर्व श्रेष्ठ कहानी मानता हूँ। हिन्दी की वह एक प्रतिनिधिक कहानी है।

व्यक्तित्त्व और कला—गीता में 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का अन्तर १८ वें अध्याय में बताया गया है कि 'अविभक्तं विभक्तेषु तत् ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।' और 'यदा भूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति।' अर्थात् जो अनेकता में एकता खोजे वह ज्ञान और जो एक में भी पृथकत्त्व जाने वह विज्ञान। संश्लेषण-विश्लेषण यह दोनों वृत्तियां मानवी बुद्धि में स्वभावतः लगी हुई हैं। उनका प्रयोग कौन कैसे करता है, इस पर कलाकार और नीतिकार का महत्त्व निर्भर करता है।

सियाराम जी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, ग्राम-जीवन-प्रधान, निश्छल-निष्कपट, स्थितिशील, आस्थावान, शारीरिक व्याधि-पीड़ित होने पर भी सतत जीवनेच्छा के आशावाद से भरा, आस्तिक्यपूर्ण है। उनकी कहानियों में भी उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप स्पष्ट लक्षित है। उनका चित्रपट विशद-व्यापक नहीं है, वे विलायती कथा लेखकों की भाँति, विशेषतः प्रकृतिवादी फ्रांसीसी मोपांसा आदि कलाकारों की तरह मानव-विकृतियों के तहों में नहीं जाना चाहते। वे मानव मात्र को सतत, निरपवाद, भेदरहित करुणा और सहानुभूति बाँटते जाते हैं। इसमें उनकी उदार संवेदनशीलता और हार्दिक वस्तुनिष्ठता व्यक्त होती है। यही निर्वैयक्तिकता उनकी कला का प्राण है। वे भावुक बनकर रस की चाशनी नहीं निर्माण करना चाहते, उन्हें अल्प माधुर्य से सन्तोष है, क्योंकि वे जानते हैं कि जीवन के कटु-तिक्त अन्य भी अनेक रूप हैं। जीवन उनके लिए निरन्तर वेगवान, हहराता हुआ प्रखर यंत्र नहीं, परन्तु गांव के ऊबड़-खाबड़ पथ से चलने वाली, बीहड़ वन में भी राह बनाती जाने वाली एक बैलगाड़ी है, जिसमें से वे शिशु-सुलभ आंखों से चहुँ ओर की चमत्कारपूर्ण सृष्टि को कुतूहल से देखते जाते हैं और वर्डस्वर्थ की भाँति कहते हैं—

उन पर्वतों में उल्लास भरा था!
उन फव्वारों में उल्लास भरा था!

योरप में जब कि कहानी पो की बतायी हुई 'हल्की बौद्धिक गोलाबारी' वाली स्थिति में आ गयी है और 'शब्द, बाहुल्य, अनासक्त, दीर्घकाय, अर्थगम्यकी अपेक्षा

छोटी, तीखी, सहज बिखरने वाली, गिने-चुने शब्दों की कहानी' अधिक पसन्द की जाती है, तब हमारे साहित्य में भी, हम आशा करते हैं कि, सियाराम जी और ऐसी कहानियां देंगे जो कि भारतीय दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भी, अधिक आधुनिक हों—बृहत्कथा और हितोपदेश की मंथर-गति में मंडराने वाले निरी सुजन-नीतिपाठ न बनी रहें।



कहानी-कार सियारामशरण गुप्त

[श्री० विष्णु प्रभाकर]

श्री सियारामशरण गुप्त कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने नाटक, निबन्ध तथा कथा सभी क्षेत्र में अपना योग दान दिया है। वह योगदान इतना अकिंचन नहीं है कि उसे भूल कर आगे बढ़ा जा सके। उनके छोटे निबन्धों में चिन्तन के अतिरिक्त एक अद्भुत आत्मीयता और सरलता है। आत्मीयता और सरलता सियारामशरण की कला की विशिष्टतायें हैं और उनके कथा साहित्य में इन विशिष्टताओं की पूर्ण परिणति हुई है।

उनकी कला के ये गुण उनके जीवन के गुण हैं। उनकी कला में उनका व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिध्वनित होता है। दमा उनका चिरसंगी है। वे देखने में भोले, विनम्र और प्यार करने वाले जान पड़ते हैं। वे किसी को ठग सकें ऐसी प्रतिभा उनके पास नहीं हैं परन्तु उन्हें कोई ठग ले जाये ऐसे भोले भी वे नहीं हैं। वे जो कुछ हैं, यह हैं कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ नहीं हैं। इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। वे अज्ञानी रह कर सीखने में विश्वास करते हैं इसलिये उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनम्र। इसीलिये उन्होंने अपने में डूब कर, वेदना की कूची से जो चित्र अंकित किये हैं, उनमें पीड़ा है और कसक है परन्तु आरोप नहीं है; मात्र संकेत है जो सीधा हृदय में जा पैठता है। यह अनुभूति की शक्ति है इसीलिये उनके साहित्य के अक्षर-अक्षर से हार्दिकता और मानवता की ध्वनि गूँजती है।

सियारामशरण का उदय द्विवेदी-युग में हुआ था। वह युग गद्य साहित्य के प्रसार और परिष्कार का युग था। विशेषकर भाषा परिष्कार का। कला का योग उसे छायावाद-युग में मिला और गांधी-युग में मानवता तथा हार्दिकता ऐसे गुणों ने उसे पुष्ट किया। सियारामशरण ने कहानियाँ लगभग छायावाद-युग की समाप्ति और गांधी-युग के उदय के आस-पास लिखी हैं; इसलिये उनमें शिव अर्थात् नैतिकता का चित्रण है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ है वह भी

नैतिकता को ही पुष्ट करने के लिये है परन्तु उनकी कला में वह मुखरता नहीं है जो श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्री प्रेमचन्द की कला में है। वे तो शरत की तरह मौन, करुण तथा पारिवारिक चित्रण में विश्वास करते हैं। उन्होंने जहाँ कहीं भी राष्ट्रीयता का सहारा लिया है वह मात्र साध्य तक पहुँचने के प्रयत्न के रूप में है। उनका साध्य केवल विशुद्ध नैतिकता है और यही उनकी शाश्वत मानवता का मूलाधार है।

फिर भी सियारामशरण व्यक्तिवादी नहीं हैं। वे परिस्थिति का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं परन्तु वे समाजवादी भी नहीं हैं क्योंकि उनकी कला प्रचलित अर्थों में आक्रमणशील नहीं है। उनकी कला में कोमलता और करुण-रस का परिपाक इतना प्रौढ़ है कि वे ऐसा आक्रमण कर ही नहीं सकते। उनकी कला में जो आक्रमण है वह परिस्थिति के वास्तविक चित्रण में से उभरता है। इसलिये उसका लक्ष्य व्यक्ति नहीं है और इसीलिये वह घृणा और प्रत्याक्रमण की भावना से अछूती है। प्राचीनता के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं इसीलिये देश की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से पीड़ित जनता की दुर्दशा का चित्रण भी इनकी कहानियों में मिलता है। इन पर गांधी-विचारधारा का पूरा प्रभाव है। वे मानते हैं कि मनुष्य मूल में बुरा नहीं है, परिस्थिति उसे अच्छा-बुरा बनाती है। उनके लिए 'मानवता' ही सत्य है परन्तु उनकी मानवता विकासशील है। कला को यदि मानवता के विकास में योग देना है तो उसे शिव होना पड़ेगा, यह सियारामशरण की मान्यता है। फिर भी बुरे को बुराई से निकाल कर अच्छाई में दिखलाने की प्रवृत्ति जो प्रारम्भ में प्रेमचन्द में थी उनमें बहुत अधिक नहीं है। वे शरत की भाँति बुराइयों के बीच मनुष्य की निर्मलता में अधिक विश्वास करते जान पड़ते हैं।

(२)

सियारामशरण को ऊपर मूलतः कवि कहा है। उन्होंने कहानियाँ भी गद्य से पहिले पद्य में लिखी हैं। उनका एक ऐसा संग्रह आर्द्रा के नाम से प्रकाशित है जिसमें लगभग सन् १९२५ से १९२७ तक लिखी हुई पद्यात्मक कहानियाँ संकलित हैं। इस काल में असहयोग आन्दोलन के अचानक बन्द हो जाने के कारण शैथिल्य और निराशा का दौर-दौरा था। घृणा, विद्वेष और आरोप-आक्रमण की भावना से नवोदित राष्ट्रीयता दूषित हो चुकी थी। ऐसे विषाक्त

वातावरण में कवि ने ये करुण कथायें लिखी थी। हूक, **प्रयाणोन्मुखी** और **चोर** आदि कथायें जहाँ व्यक्तिगत करुणा से ओत-प्रोत हैं वहाँ **नृशंस** (दहेज प्रथा) **एक फूल की चाह** (अछूत प्रथा) **अग्नि परीक्षा** (अपहृत नारी) **डाक्टर** (ऊँच-नीच की भावना) और **खादी की चादर** (विधवा) आदि कहानियों में सामाजिक कुरीतियों और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों का जो चित्रण है, वह बड़ा सजीव और मार्मिक है। यद्यपि उनका धरातल व्यापक नहीं है तो भी उनका प्रभाव काफी सशक्त हैं। **खादी की चादर** की करुणा संग-दिल को भी पानी कर देने की शक्ति रखती हैं। वह एक तिरस्कृता विधवा नारी की कथा है जिसके कुटुम्बी धोखे से उसे तीर्थ में छोड़ आये हैं और सहायता के अभाव में जिसकी एक मात्र बच्ची चल बसी हैं। उस विधवा नारी की उपचेतना में कलाकार ने जिस एकनिष्ठ और आरोपहीन करुणा का उद्रेक कराया है वह निश्चय ही अद्भुत है।

इन कहानियों का दृष्टिकोण विशुद्ध सुधारवादी है। पिछली शताब्दी के अन्त में अनेकों सुधार आन्दोलनों के फल स्वरूप जो जागृति इस देश में फैल रही थी उसी का प्रकाश इन कहानियों में बिखरा पड़ा है परन्तु यह सब होने पर भी इनमें उपदेश या प्रवचन का अभाव है। इसलिये कला प्रचारवादी होने से बच गई है। इन कहानियों पर राष्ट्रीयता का प्रभाव भी हैं। **खादी की चादर** में मात्र खादी का नाम है परन्तु **बन्दी** कहानी में एक ऐसे क्राँतिकारी का चित्रण हैं जो अपने साथियों का नाम बताने पर छोड़ा जा सकता हैं। उसका एक मित्र उसे माँ की व्यथा बता कर साथियों के नाम बताने पर राजी करना चाहता है परन्तु बन्दी माँ की पीड़ा से कराह कर भी यही कहता है :—

आज रो रही है एक मेरी माँ;
कैसे मैं रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?
दु:ख एक माँ का है असह्य मुझे इतना;—
—अन्य साथियों का गला;
कैसे जान बूझ के फंसा दूँ भला;—
होगा शत मांओ का कराल क्लेश कितना ?

देखा जाय तो राष्ट्रीयता के मिस पर-दुख-कातरता के शाश्वत मानवीय गुण का चित्रण ही इस कहानी में हुआ है। **डाकू** कहानी में हृदय-परिवर्तन के चित्रण के साथ शोषण-प्रवृत्ति पर गहरी चोट है। परन्तु वह चित्रण में से ही उभरी है।

लेखक का वह लक्ष्य नहीं है। एक निर्धन किसान, महाजन ने जिसका सब कुछ कुर्क करवा लिया है, डाकू बन कर एक साहूकार के घर डाका डालते समय, एक ऐसी बालिका को देखता है जो माल बताने के लिए बार-बार पीटी जाने पर भी :—

पीड़कों को ही दे निज भार
खड़ी थी हा! वह किसी प्रकार
सिकुड़कर छोटाकर निज गात
सह रही थी गुरुतर उत्पात।

इस बालिका को देखने पर डाकू को कुर्की के दिन की याद आ जाती है। उस दिन कुछ ऐसा ही दृश्य उसके घर में दिखाई दिया था। यह दृश्य-सादृश्य डाकू के हृदय में दबी हुई मानवता को जगा देता है और वह बालिका को छाती से चिपकाकर रो उठता है। जैसे उन आँसुओं में उसका कलुष धुल जाता है और इसके बाद वह जैसे आया था वैसे ही खाली हाथ लौट जाता है। "पाथेय" की कहानियों में, जो लगभग १६३३-३४ के आसपास लिखी गई हैं, अधिक गहराई और चिन्तन है। बंगाल के अकाल के समय लिखी गई कविता "रासमणि" में एक ऐसी किसान कन्या की कथा है जो अकाल के कारण अपने जनपद से निकाल दी गई है। वह एक बहुत प्रभावोत्पादक चित्र है।

सियारामशरण की पद्यात्मक कथाओं की सबसे बड़ी शक्ति करुणा और चित्रमयता है। परन्तु करुणा जहाँ उनकी शक्ति है वहाँ दुर्बलता भी है। बहुधा वह दृष्टि को धुँधला कर देती है।

(३)

पद्यात्मक-कथाओं के समान उनकी गद्य-कहानियों की संख्या भी बहुत नहीं है। आठ कहानियाँ 'मानुषी' में संग्रहीत हैं। कुछ इधर-उधर पत्रों में प्रकाशित हैं। उनकी एक प्रसिद्ध कहानी **सच-झूठ** इसी नाम के निबन्ध संग्रह में संकलित है तथा **चुक्खु, रामलीला,** और **प्रेत का पलायन** 'प्रतीक' में छपी हैं। 'मानुषी' की कहानियों का रचना काल सन् १९२३ से १९३० तक का है। उन पर गांधी विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है। शैली की दृष्टि से वे आडम्बरहीन तथा दृष्टिकोण के अनुसार **शिव** का प्रतिपादन करती हैं। लेखक इसी प्रवृत्ति को अमर तत्त्व मानता है। शेष अशिव प्रवृत्तियाँ मनुष्य की क्षणभंगुरता से भी अल्पजीवी हैं। **मानुषी** के मनोहरलाल के "जीवनकाल में लोगों ने उसके ऊपर पत्थर ही बरसाये थे। उसने झाड़-पोंछ कर वे पत्थर अपने ही पास रख छोड़े

थे। प्रतिवाद के लिए आक्रमणकारियों के ही ऊपर न फेंक कर उसने उन सबको निशस्त्र और निस्सहाय कर दिया था।" और उनकी पत्नी **श्यामा** जीवन भर अमूल्य नगों को लोष्ठवत समझती रही। उसके स्वामी विना चिकित्सा के रोग में घुल-घुलकर स्वर्गवासी हुए और पाँचहजार के नग वाली अँगूठी उनकी जेब में ही पड़ी रही। वे उसका मूल्य नहीं जानते थे। श्यामा भी उनकी मृत्यु के बाद जान पाई पर जान कर भी स्वामी के साथ कपट करने वाले रत्नों से उसने कोई सम्बन्ध स्थापित करने से इन्कार कर दिया। वे घर की मिट्टी में मामूली काँच की तरह उपेक्षित पड़े रहे। जिसमें इतनी निस्पृहता हो उसे कोई अभाव नहीं हो सकता यह लेखक ने दिखाया है। प्रश्न उठता है—क्या ऐसा इस धरती पर सम्भव है? लेखक उसे उत्तर देता है—कलाकार जो सम्भव है उसी को लक्ष्य करके नहीं चलता बल्कि जो होना चाहिये वह उसका अधिक इष्ट है। **जो होना चाहिये** इस पर मतभेद हो सकता है। सच पूछिये तो मतभेद है यहीं पर। फिर भी कलाकार के लिये बाहिर का मतभेद इतना बुरा नहीं है जितना उसके अपने अन्दर का। यदि वह स्वयं संशय में रहेगा तो पाठक को क्या देगा? सियारामशरण की कला में यह संशय नहीं है। उनके उद्देश्य चाहे वे कैसे भी हैं, स्पष्ट हैं। हाँ, वे कहीं-कहीं इतने सजग हो उठते हैं कि कहानी-तत्व दब जाता है और कहानी कल्पना की प्राणहीन वस्तु बन कर रह जाती है। भला करो, भला होगा, इसी बात को लेकर **कष्ट का प्रतिदान** कहानी लिखी गई है। उसमें स्वाभाविकता की कमी है। ऐसा लगता है जैसे लेखक आदर्श को लेकर कथानक का निर्माण कर रहा है और पात्रों से मनचाही बातें कहलवा रहा है। परन्तु उसी संग्रह की कहानी **पथ में से** पात्र के आन्तरिक संघर्ष के कारण बड़ी प्राणवान बन गई है। नैतिकता दोनों में है पर एक की नैतिकता लेखक के अन्दर से फूटी है, दूसरी की कहानी और उसके पात्र के अन्दर से। दूसरी कहानी में लेखक कथानक की सचाई में पूर्ण विश्वास करता जान पड़ता है तभी उसकी कला में निखार और उसके पात्रों में प्राण हैं। **बैल की बिक्री** एक और ऐसी ही कहानी है जिसका उद्देश्य वही है परन्तु घटना के वैचित्र्य और पात्रों के चरित्र-चित्रण ने उसे एक सफल कहानी बना दिया है। ऋण देने वाले महाजन की क्रूरता, किसान की बैल के प्रति ममता, किसान पुत्र शिबू की उद्दण्डता और पिता के प्रति छिपा हुआ प्रेम, इन सबके स्वाभाविक और सरल चित्रण ने कथा में जान डाल दी है। **कोटरकुटीर** एक ऐसी करुण कहानी है जिसमें घुमा-फिरा कर ईमानदारी की महानता का उद्घोष किया गया है। लेकिन कला की दृष्टि से **काकी** इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। वह शिशु के शैशव की भाँति मधुर,

और करुणा की तरह करुण है। बालक श्यामू की माँ ऊपर आकाश में भगवान के पास चली गई है। बालक उसे नीचे अपने पास बुलाना चाहता है। एक दिन पतंग उड़ती देखकर वह सोचता है—माँ पतंग पकड़ कर नीचे आ सकती है। बस पैसे चुराकर वह पतंग मँगवाता है और उस पर नाम लिख कर उड़ाने के प्रयत्न में है कि पिता चोरी की खोज करते-करते उसे पकड़ लेते हैं और पीटते हैं परन्तु जब उन्हें रहस्य का पता लगता है तब वे सहसा हत-बुद्धि होकर बेटे को देखते ही रह जाते हैं। कहानी इतनी ही है परन्तु शैशव और स्नेह का जो सहज-स्वाभाविक और इसीलिये गहन और पुष्ट अध्ययन यह प्रस्तुत करती है वह बहुत सुन्दर है।

सियारामशरण की इन कहानियों पर तात्कालीन समाज-सुधार या राष्ट्रीय-जाग्रति का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई देता। इनमें मानव के शाश्वत कहे जाने वाले गुणों की चर्चा है। **काकी** को छोड़ कर सब आदर्शवादी कहानियाँ हैं। इन कहानियों के अधिकांश नभचारी पात्रों से हम व्यापक जन-समुदाय के मानस को नहीं समझ पाते। वातावरण की दृष्टि से भी लेखक का क्षेत्र सीमित है। इसका कारण यह है कि इन कहानियों के रचना काल तक उनकी दृष्टि यथार्थ की दुनिया पर पूरी तरह नहीं जा पाई थी। उनमें जो दर्द है वह भी प्रेम से अधिक आदर पैदा करता है। **मानुषी** की **श्यामा** को पाठक प्रणाम कर सकता है। **कोटर-कुटीर** के **गोकुल** के सामने, आयु में छोटा होने पर भी मस्तक नवा देता है परन्तु वह उनको अपना नहीं समझ पाता। हाँ, **बैल की बिक्री** के **शिबू माते** को आदर के साथ पाठक प्रेम भी करता है क्योंकि उसमें अधिक स्वाभाविकता है। **काकी** के **श्यामू** को तो बार-बार गोद में उठाकर छाती में भर लेने को जी करता है। यही कहानी की सफलता है।

पद्यात्मक-कथाओं की भाँति करुणा इन कहानियों में भी है परन्तु कहीं-कहीं वह आदर्श के भार से दब कर रह गई है।

(४)

सियारामशरण जन्मजात प्रतिभा वाले कलाकारों की श्रेणी में नहीं आते। उनका सतत विकास हुआ है। **आर्द्रा** की पद्यात्मक-कथाओं पर सुधारवाद का प्रभाव है तो **मानुषी** की कहानियों में गान्धी-चिन्तन-धारा के आदर्शों का चित्रण है। इन कहानियों में कला भी काफी पुष्ट हुई है। **श्यामा** और **मनोहर** जहाँ आदर्शों के साथ आदर्शमय है वहाँ **शिबू माते** एक साधारण मानव चरित्र है जो

संसार के साथ गिरता-उठता और हसता-खेलता है। वह आदर्शवाद से आगे मानवतावाद का प्रतीक है।

सियारामशरण जैसा कि ऊपर कहा गया है समाजवादी नहीं है पर मानवतावादी होने के कारण वे मानवता को नष्ट करनेवाली परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। उनकी कला में वर्ग-संघर्ष नहीं है परन्तु वर्ग चेतना अवश्य है बेशक वह अनजाने ही है। यह बात **बैल की बिक्री** में स्पष्ट है। जब पाठक सर्वहारा वर्ग के किसान पुत्र **शिबू माते** के साहस और इमानदारी से चकित होता है तो उसे मानवता के शत्रु महाजन **ज्वालाप्रसाद** से घृणा भी होती है। यह बात दूसरी है कि लेखक का प्रयत्न इस घृणा को चित्रित करना न हो परन्तु एक की महानता दूसरे की लघुता बन ही जाती है।

सियारामशरण की इधर की कहानियों में यह तत्व और उभरा है। यद्यपि पुराना आदर्शवाद धुँधला होता जान पड़ता है फिर भी उसमें समाजवाद का वर्ग-संघर्ष नहीं है बल्कि मानवता को लेकर जीवन की ट्रैजेडी के चित्र अंकित हैं। **चुक्खु** उनकी हाल की रचना है। (प्रतीक, संख्या २, पावस, १९४६ में प्रकाशित)। उसमें **चुक्खु** कोई एक व्यक्ति न रह कर समूह का एक अंग मात्र है। लेखक ने स्वयं लिखा है—"आज के अंक में प्रकाशित मृतकों की संख्या आतंक उपजाने वाली है। उसमें नाम और पता किसी का नहीं है। न मनुष्यों का न चूहों का फिर भी मुझे पता है कि उस बड़ी संख्या में एक का नाम चुक्खू है।" वह उस सर्वहारा-वर्ग का प्राणी है जिसका व्यापारी वर्ग सदा शोषण किया करता है लेकिन वह है कि शोषण के प्रति विद्रोह कर ही नहीं पाता। उसके शोषक (पुराना सहपाठी, आज का व्यापारी) के शब्दों में वह "चालाक है फिर भी सच बात कहनी पड़ेगी ऐसा भी नहीं है कि ईमानदार न हो। कल की ही बात है मेरी दुकान में एक चूहा मरा पाया गया। पुराना नौकर उठाकर फैंकनेमें आनाकानी कर रहा था तो बिगड़ पड़ा। बोला—तुम बेईमान हो, निकल जाओ, मैं अकेला दूकान सँभालूँगा और तब उसने स्वयं ही चूहे की पूँछ पकड़ कर उसे नाली में फेंक दिया ......चुक्खू के विश्वास दिलाने पर ही मैं यहाँ आया हूँ। आने लगा तो उसके आँसू आ गये थे। हाथ जोड़कर उसने प्रार्थना सी की और कहा--"भगवान ! तुम्हें फला-फूला रखे।" आँसू वाँसू मुझे नहीं आते परन्तु उस समय न जाने क्या हुआ कि मेरा भी जी भर आया। **नौकर होने पर भी अपने बचपन का साथी तो है।"**

इस अन्तिम पंक्ति से क्या पाठक का दिल तड़प नहीं उठेगा। यह सिया-

रामशरण का व्यंग है । इसमें कड़वाहट नहीं है पर मर्म को छेदने की शक्ति अवश्य है । चुक्खू को बचपन का साथी मानने वाला महाजन ही उसे प्लेग के मुंह में झोंककर स्वयं भाग आया है । वह तो महाजन था, उसे तो दूकान की रक्षा करने वाला मिलना चाहिये । बचपन का साथी हो या कोई और। सब बराबर है। कोई साथी का अधिकार लेकर उसके कार्य में बाधा कैसे दे सकता है। इसलिये जब चुक्खू चल बसा तो महाजन को दूसरे चुक्खू की चिंता हुई-"कल के मरने वाले चूहों और मनुष्यों में एक का नाम चुक्खू है। उस टीन के नीचे छप्पर वाली पिंजड़े जैसी दुकान के लिये अब दूसरा चुक्खू चाहिये।" लेखक ने इससे अधिक कुछ नहीं लिखा । वह यहाँ भी वर्ग संघर्ष पैदा करना नहीं चाहता । वह तो मानवता को कलंकित करने वाली परिस्थितियों का चित्रण करना चाहता है। प्रगतिशील का तर्क है। यही परिस्थितियाँ तो वर्ग संघर्ष पैदा करती हैं। यहाँ तक दोनो एक है, भिन्नता आगे आती हैं। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं इस यथार्थ चित्रण ने चुक्खू में एक गहरा तीखापन भर दिया है। उस तीखेपन में हार्दिकता का भी अभाव नहीं है । कोई ऐसी अनावश्यक बात नहीं है जो कहानी की मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता को नष्ट करती हो। यह कहानी उनकी दूसरी कहानियों से एक और बात में भिन्न है कि इसमें कोई नैतिक सन्देश देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यद्यपि चुक्खू का चित्रण एक आदर्शवादी के रूप में हुआ है तो भी इसमें उस कला की उपासना है जो दलित मानवता की शक्ति बनकर शोषण के इस उद्घोष को चुनौती देती है कि चुक्खू मर गया, दूसरा चुक्खू चाहिये। दूसरा भी मर जाये पर शोषण की यह शाश्वत परम्परा रुकने वाली नहीं है।

मानवता के उपासक सियारामशरण दूसरे शाश्वत कलाकारों से एक बात में भिन्न है—जबकि उन कलाकारों को युग की तत्कालीन परिस्थितियों ने तनिक भी प्रभावित नहीं किया, सियारामशरण उधर से नेत्र नहीं मूँद सके। बंगाल के अकाल के सम्बन्ध में उनकी कविता 'रासमणि' की बात ऊपर आई है। साम्प्रदायिकता के ताण्डव नृत्य के समय भी वे एक अकेले कलाकार थे जो प्रगतिवादियों की श्रेणी से बाहरी मानवता पर आये हुये उस संकट के विषय में पाठक को चेतावनी देते रहे थे। इससे स्पष्ट है कि सियारामशरण की मानवता सम्वेदनशील है और साथ ही उनकी आस्तिकता इतनी दृढ़ है कि वे न तो हिन्दी के श्री सुमित्रानन्दन पन्त और बंगला के श्री बुद्धदेव वसु की भांति प्रगतिशील माने जा सकेंगे और न फिर बाहिर निकाले जा सकेंगे।

उनकी एक और कहानी है **झूठ-सच** । चुक्खू से बहुत पहिले १९३७ में वह लिखी गई थी। वह उनके निबन्ध संग्रह में संग्रहीत है। सियारामशरण के निबन्ध 'पर्सनल एसे' की श्रेणी के हैं। लेखक के मन पर किसी घटना या परिस्थिति की जो प्रतिक्रिया होती है उसी का चित्रण उनमें होता है। 'झूँठ-सच' ऐसी ही घटना की प्रतिक्रिया के स्वरूप लिखी गई है। आदर्श और उद्देश्य की घोषणा उसमें नहीं है लेकिन उसमें वे सारे तत्व हैं जो कहानी को कहानी बनाते हैं। इसमें चित्रण, चमत्कार, उत्सुकता सभी कुछ है और अन्त होते-होते पाठक के सामने एक ऐसा रहस्योद्घाटन होता है कि वह हत-बुद्धि-सा देखता रह जाता है। इस कहानी में निम्नवर्ग का सुन्दर चित्रण है। 'रुपये की समाधि' नामक एक पुरानी कहानी में भी मजदूर जीवन का अच्छा चित्रण हुआ है परन्तु झूँठ-सच की सफलता इस चित्रण के कारण नहीं है। उसकी सफलता उसके व्यंग में है। कहानी कहने वाला जिन दो तथाकथित प्रेमियों को लेकर उपन्यास का प्लाट बना रहा था वही अन्त में सगे भाई-बहिन निकले। बहिन शराबी और चोर पति के अत्याचार से पीड़ित है और भाई उसकी सहायता करना चाहता है पर बहिन की पति-भक्ति के कारण कुछ कर नहीं पाता। कहानी में जहाँ आश्चर्य है वहाँ टीस भी कम नहीं है। यह कल्पनाओं में मस्त रहने वालों पर एक बहुत बड़ा व्यंग है।

(५)

सियारामशरण की इधर की कहानियों में अभिव्यक्ति अधिक है और नैतिक सन्देश देने की भावना कम। इसका कारण उनका यथार्थ चित्रण है। चित्रण जब सच्चा होता है तो लेखक को बोलने की आवश्यकता नहीं रहती। कलाकार और प्रचारक का यही अन्तर है। सियारामशरण प्रचारक के सरल पर अप्रिय कार्य से बहुत आगे है। उनका मार्ग कलाकार का वह मार्ग है जो दुष्कर होने पर भी प्रिय और प्रभावशाली है।

सियारामशरण के पात्र विद्रोही नहीं हैं। वे समाज को छिन्न-भिन्न करने का क्रान्त स्वर उठाते हैं न उसका पुनर्निर्माण करने की प्रतिज्ञा करते दिखाई देते हैं। **शिबूमाते** भी जब परिस्थिति का डटकर सामना करता है तो वह महाजन का नाश करने या उसका सुधार करने की भावना से नहीं करता। उसके मन में तो पिता का ऋण चुकाने की भावना है। **मानुषी** के **'मनोहरलाल'** और **'श्यामा'** के विद्रोह का लक्ष्य अपना ही व्यक्तित्व है। **'चुक्खू'** तो बलिदान में गदगद होता है। बिना गिल्वा-शिकवा किये वह मुसीबतें उठाता है और अन्त में प्राण तक दे देता है। **कोटर-कुटीर** का पक्षी चातक विद्रोह के कारण ही पराजित होता है।

हाँ, झूँठ-सच में काशीराम अपने अत्याचारी बहनोई का गला घोंटने की बात कहता है पर यह भावना भी निराशा से उत्पन्न हुई है : इसका कारण वही है कि इन कहानियों में जिन समस्याओं की चर्चा है वे प्रायः कोई तात्कालिक महत्व नहीं रखती। उन्होंने सभी समस्याओं का अध्ययन मानव-मूल्यों के प्रकाश में किया है। वे आरोप और आक्रमण में विश्वास नहीं करते। 'अपने आपको सुधारो समाज सुधरेगा' यही उनका मन्तव्य है। इस दृष्टि से मानवी के पात्र जो परिस्थितियों के सामने झुकते जान पड़ते हैं बड़े शक्तिशाली हैं। वे अपने आदर्शों के प्रहरी के रूप में अपने बलिदान द्वारा संसार को चुनौती देते हैं।

टैकनीक की दृष्टि से ये प्रायः सभी कहानियाँ सफल हैं। उनका पहिला गुण है ईमानदारी, जो स्वाभाविक चित्रण के कारण पाठक को अभीभूत कर लेती है। व्यर्थाडम्बर का अभाव, उद्देश्य की स्पष्टता, और आन्तरिक संघर्ष के कारण रोचकता और उत्सुकता उनमें बनी रहती है। उनके चित्रण और वर्णन में आत्मीयता है। चित्रमयता उनकी कला की विशिष्टता है। घटना या व्यक्ति सभी का वे ऐसा चित्र उतारते हैं कि भुलाये नहीं भूलता। चुक्खू को ही देखिये-"देखा नंगे सिर और नंगे पैर कोई व्यक्ति नमस्कार कर रहा है। सिर पर बड़े-बड़े और रूखेकेश, दाढ़ी में काली और सफेद सुइयों की नोक जैसे बाहर निकले हुए बाल, माथे पर चन्दनका त्रिपुण्ड, वस्त्रों में बिना साबुन के पछाड़ा हुआ कुरता, कंधे पर एक मैला पटका और कमर में फटी-पुरानी धोती,--बस यही उसकी वेश-भूषा थी। सहसा समझ न सका कि कौन है। चेहरे से किसी न किसी अत्यन्त घनिष्ट जन के मिल जाने की प्रसन्नता प्रकट हो रही थी। मैंने हाथ जोड़ लिये और स्वयं भी मुँह पर प्रसन्नता लाने का प्रयत्न किया। चलते हुए ताँगे के कारण उस भद्दी स्थिति से बच गया जिसमें किसी न किसी प्रकार यह कहना ही पड़ता कि पहचाना नहीं।" बेशक कहानी कहने वाले सज्जन उसे भूल गये होंगे पर पाठक न तो इस व्यक्ति को भूल सकता है न इस स्थिति को। और व्यक्ति क्यों? सियारामशरण एक घर का वर्णन करते हैं:—

तेल की कर नीचे तक कीच, एक आले के बीचो बीच,
जल रहा था जो मन्द प्रदीप, उसे उसकाया पहुँच समीप;
और फिर देखी मैंने पौर; लिपी थी गोबर से सब ठौर।
धोतियों के थानों के चित्र, भीत पर चिपके थे सुविचित्र।
अलगनी के ऊपर कुछ म्लान, सूखते थे गीले परिधान।
अंगीठी करके धूम्रोद्गार, जनाती थी अपने में सार।

वहीं रखा था एक तुरंग, काठ का, सुन्दर शोभन रंग ।
अरे, किसने करुणा के साथ, फेरकर तुझ पर कमल हाथ ।
दिया है यह रोटी का कौर, यहां तेरे मुँह में ! यह और ।
धर दिया हुक्का भी तो पास, कि खा चुकनेपर मुँहका ग्रास ।
करेगा अभी धूम्र भी पान ! जड़ों को भी ममत्व ला दान ।
अरे तो क्या करुणा का लेश, कहीं है कुछ कुछ अबभी शेष ।

इस चित्र में छन्दो का संगीत वेशक नहीं है पर परिस्थिति यथार्थता और कोमलता का चित्रण पाठक को मोह लेने के लिये यथेष्ट है और इसके पीछे जो किसी शिशु का मधुर शैशव उभर उठा है वह और भी प्रिय है। ऐसे और अनेको सुन्दर चित्र इन कहानियों में स्थान स्थान पर मिलेंगे जो अनूठी उपमाओंके कारण और भी निखर उठे हैं । (१) जिस गीली लकड़ी के सिरे पर आग होती है और दूसरे सिरे से पानी रिसता है उसी जैसी उसकी अवस्था थी, (२) म्यूनिसिपेलिटी की लालटेनें अपने ऊपर अन्धकार का ग्लोब चढ़ाकर टिमटिमा रही थीं (३) अनुमान हमारे कान के दूरबीन हैं (४) परन्तु प्रतिद्वन्द्वी न होने से आग लगी अकेली लकड़ी की भाँति अपने आप दग्ध होकर शान्त होजाना पड़ा। और (५) पकी निबौरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था।ऐसी उपमाओं में जहाँ चित्रमयता और सूझ है वहाँ पाठक इन व्यंगोक्तियों की शक्ति का अनुभव किये बिना भी नहीं रह सकता—(१)जीर्ण-शीर्ण दीवारें रोशन दान होने की साध दरारों के "दत्तक" से पूरी किया चाहती थीं (२) खेती के पौधे अकाल वृद्ध होकर असमय में ही मुरझा रहे थे परन्तु महाजनों की फसल का हाल ऐसा न था। बादल ज्यों-ज्यों खिंचते उनकी खेती में त्यों-त्यों नये-नये अंकुर निकलते थे। (३) ब्राँच एक नहीं दस खुलेंगी किन्तु हेडआफिस इसी छप्पर में रहेगा (४) जिस तरह बैकुण्ठ विहारी भगवान की प्रस्तर मूर्ति बनाने की व्यवस्था करके उनकी अर्चा घर-घर सुलभ कर दी गई है उसी तरह ईश्वर के अंश स्वरूप नराधिप की सेवा करने के लिये जगह-जगह जमीदार प्रतिष्ठित किये जाते हैं।—सियारामशरण साधारणतया हास्य रस का प्रयोग नहीं करते, यह उनकी एक बड़ी कमी है। परन्तु इन उक्तियों में व्यग के साथ दबा हुआ हास्य भी है (१) पण्डित ने जन्मकुण्डली में लिखा था पाँडिय चतुरानन प्रसाद शर्मा। यह नाम स्वयं चुक्खू के लिये अपना न रहकर मँगनी लिया जैसा हो चुका था। (२) एक चमार आसामी ने मुफ्त में जूते बनाकर कुछ दिन के लिये उससे छुट्टी पाने का बचन लिया था। उन जूतों ने रामधन को चलने-

फिरने से ही कुछ दिन के लिये छुट्टी देकर अपने निर्माता का लेन-देन बराबर कर देना चाहा।

सियारामशरण के वर्णन में आन्तरिक विश्लेषण की प्रमुखता है और शैली पर चिन्तन का भार परन्तु फिर भी कलाकार प्रायः मौन रहता है, उसके पात्र ही बोलते हैं। अन्त होते-होते तो पाठक कलाकार के अस्तित्व को भूल जाता है और पात्रों से तादात्म्य भाव स्थापित कर लेता है। यह कलाकार की एक बड़ी सफलता है। कहानी के पात्रों को समझ कर ही पाठक उनके संसार को समझ सकता है। इसका कारण यह है कि लेखक अन्त में उपदेश देने या टिप्पणी करने नहीं रुकता। "झूंठ-सच" के अन्त में जब इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि रधिया काशीराम की भगाई हुई प्रेमिका न होकर दुखिया बहिन है तो कथा-कार बस इतना ही कहता है—"रधिया तुम्हारी बहिन है।" और उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं। कोई और लेखक होता तो मानसिक अन्तद्वन्द्व का चित्रण करता या न करता, धरती और आकाश को अवश्य कम्पायमान कर देता। **काकी, चुक्खू, बैल की बिक्री** इस दृष्टि से बड़ी सफल कहानियाँ हैं। लेकिन **पथ में से** जैसी सुन्दर कहानी इस अन्त से वंचित रह गई है।

सियाराम शरण की भाषा में चुलबुलापन, अलंकरण और कृत्रिमता नहीं है। वह सरल, सुव्यवस्थित, प्रौढ़ और मन्थरगति से बहने वाली है। प्रारम्भिक कहानियों में दग्धीभूत, गरीयसी, और महीयसी, ऐसे शब्दों के प्रयोग के कारण कुछ दुरुहता आगई है परन्तु इधर वे गायब हो चुके हैं, इसीलिये वर्णन में प्रवाह है। "प्रेत का पलायन" कहानी में विषय के अनुरूप कवित्व और माधुर्य का समावेश भी हुआ है। "उसके जूड़े की बकुलमाला का यह सौरभ यहाँ रात के अन्धकार में महक उठा है।" "मालूम हुआ, इसका नाम राका है। जिसने उसे यह नाम दिया होगा उसकी प्रशंसा करता हूँ। इसके आने से सचमुच ही पूरा गृह आलोकित हो उटा है।" "ये फूल किस लिये राका? तुम जैसी मंदार मंजरी के सामने तुम्हारे ये फूल मुझे बहुत दयनीय जान पड़ते हैं। इन्हें चुन लाने में समय का अपव्यय ही हुआ समझो।" "राका का आगमन दिन में असामयिक है, रात्रि में ही उसका माधुर्य निखरता है। किन्तु कुछ हो, तुम्हारे आने से आज का प्रभात सार्थक हुआ।"

और अब अन्त में फिर प्रारम्भ की बात दुहरा दें कि श्री सियारामशरण की कला में सरलता है, हार्दिकता है और तन्मयता है। निस्सन्देह ये कहानियाँ मनोरंजन के लिये नहीं लिखी गई हैं। इनमें समस्यायें हैं, इसलिये इनकी उपा-

देयता स्पष्ट है पर साथ ही यह भी सच है कि कलाकार का उद्देश्य प्रचार करना नहीं है, इसलिये उनमें प्रचारक की मुखरता नहीं है, कलाकार का मौन है। उनकी शक्ति क्रान्ति की शक्ति नहीं है। एक विनम्र साधक की शक्ति है। वह आगे बढ़ता है खोजने और पता लगाने के लिये, नाश और निर्माण के लिये नहीं। निर्माण का दावा वे नहीं करते इसलिये नाश करने की शक्ति भी उनमें नहीं है।

कहा गया है श्री सियारामशरण की प्रतिभा विकसित हुई है। विकास का जीते जी अन्त नहीं होता। इसलिये आगे अभी कला को और विकसित होना है। उनके शरीर की शक्ति भले ही क्षीण हो पर कला की शक्ति निरन्तर बढ़ेगी। उनका अबतक का विकास इसका साक्षी है। वे वर्ग-संघर्ष को चित्रित करेंगे ऐसी आशा उनसे नहीं की जा सकती पर पीड़ित मानवता के चितेरे होने के कारण उनके चित्रों में देवासुर संघर्ष का तीखापन अवश्य उभरता चलेगा। और अटूट आशावादी होने के कारण उनकी कला का प्रभाव सदा स्वास्थ्यप्रद रहेगा।

इसी आशा के साथ इस आशावादी चिन्तक को हम प्रणाम करते हैं।



सियारामशरण के निबन्ध

[प्रो० गुलाबराय एम० ए०]

गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। यह शायद इसीलिए कहा गया है कि जो लोग गद्य के शुष्क कलेवर में भी कविता का रस बनाये रख सकते हैं वे ही सच्चे कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। उनका कवित्व आकाराश्रित नहीं है वरन् आन्तरिक और हृदयगत है। यही रस-रूप आत्मा गद्य को भी काव्यत्व प्रदान करती है। श्री सियारामशरण जी ऐसे ही कवियों में से हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के जादू भरे स्पर्श से गद्य के लोहे को भी सोना बना दिया है।

गद्य का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप हमको निबन्धों में मिलता है। गद्य अपने और रूपों में तो माध्यम मात्र रहता है, उसका निजी और साहित्यिक रूप हमको निबन्धों में मिलता है। निबन्धों की परिभाषा के सम्बन्ध में आलोचकों ने बहुत-कुछ उखाड़-पछाड़ की है। उसने अपने विकास-क्रम में कई रूप बदले हैं। मन के स्वच्छन्द, निर्बाध और अनियन्त्रित बहाव की अव्यवस्थित रचनाओं से लगाकर तर्क की लोह शृंखला में कसी शौकीन बाबू लोगों के ट्रंकों में जमी हुई कपड़ों की सुव्यवस्थित तहों की भाँति एक दूसरे से सटी हुई विचारा-वलियों का उद्घाटन करने वाले समस्त शैली के निबन्ध तक सब निबन्ध के व्यापक रूप में आते हैं। किन्तु इन सब में दो विशेषताएँ रहती हैं जो निबन्ध को पुस्तकों के अध्यायों से व्यावृत करती हैं। वे हैं स्वतः-पूर्णता और निजीपन। निबन्ध चाहे वैयक्तिक हो और चाहे निर्वैयक्तिक उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप पूरी तौर से रहती है।

झूठ-सच के लेखों में यह वैयक्तिकता की छाप पूर्ण रूपेण वर्तमान है।

निबन्ध संग्रह का नाम झूठ-सच एक दम एक सुखद हलकापन उत्पन्न कर देता है और गाम्भीर्य की विभीषिका को तुरन्त दूर भगा देता है। यह नाम

पाठक में कहानी सुनने का सा औत्सुक्य जाग्रत कर देता है। लेखों के छोटे-छोटे अट-पटे शीर्षक, जैसे ऋणी, एक दिन, घोड़ा शाही, निज कवित्व, शुष्को वृत्त :, कवि की वेशभूषा, घूंघट में, आदि एक दम मन को आकर्षित कर लेते हैं और अपने अप्रत्याशित कवित्व-पूर्ण विवरणों द्वारा चित्त को रमाये रखते हैं। 'ऋणी' में ऋण के अनेक रूप दिखाये गये हैं जिनसे साहु से साहु भी नहीं बच सकता है, 'एक दिन' में विफल दिनों का साफल्य दिखाया है, 'घोडा शाही' में उसका वर्तमान मशीन युग में भी होर्स पावर के आधारपर साम्राज्य अनुकरण किया है। 'शुष्को वृत्त:' में जनश्रुति के प्रतिकूल शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे में कर्णकटु अभिव्यक्ति करने वाले बिचारे अभागे कवि की पीठ ठोकी गई है क्योंकि उसने विषयानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि गुप्तजी स्वयं नीरस को भी सरस बनाने के अभ्यस्त हैं तथापि वे सिद्धान्ततः भाषा को विषयानुकूल बनाने के ही पक्ष में हैं। हमारे साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने भी तो श्रुति-कटुता को वीर रस में गुण माना है। लेकिन वह कवित्व-शून्य नहीं होना चाहिये। शुष्कं काष्ठं में वह रस है या नहीं यह अतिरिक्त विवेचन का विषय है। 'कवि की वेश भूषा' में स्वयं खद्दरधारी होते हुए भी चीनांशुक को महत्ता दी है और उसका सम्बन्ध कवि कुल गुरु कालिदास से जोड़ दिया है, बातों ही बातों में अवध-सूर्य और राम के नाम के प्रति दुर्बलता-पूर्ण मोह के कारण बाबा तुलसीदासजी को उसे फटी कोपीन के बदले में स्वीकार करने को तैयार कर लिया गया है। गुप्तजी रामभक्त होने के नाते राम भक्तों की कमजोरी से परिचित हैं। 'घूँघट में' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों के सावरण रहने पर बड़ा सुन्दर व्यंग्य है, किन्तु व्यंग्य की चोट पूरी कर उसको पुरुषों पर ही उतार दिया गया है। क्या हम लोग ही पूरी तौर से निवारण हो सकते हैं? अपने घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र के असली स्वरूप के सम्बन्ध में हम उतने ही अजानकार रहते हैं जितने कि उन घूँघटवाली स्त्रियों के जिनके कि हाथ-पैर के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं देख पाते। इस प्रकार व्यंग्य की चोट पर मरहम लग जाता है।

ऊपर के विवरण से यह न समझा जाय कि इन निबंधों में कोरा हास्य-विनोद और चमत्कार-प्रदर्शन ही है मुंशी अजमेरी जी के सम्बन्ध में लिखे हुए 'मुंशीजी' जैसे वैयक्तिक निबन्ध में अगाध करुणा है और वह हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के साम्प्रदायिकता के विषम ज्वर के लिये रामबाण औषधि का काम देगा। 'छुट्टी' में भी करुणा का स्त्रोत उमड़ पड़ा है। 'साहित्य और

राजनीति' में साहित्यकार को राजनीतिज्ञ का सहायक मानते हुये भी उसकी स्वतन्त्रता को शृंखलित नहींकरना चाहते। वे लिखते हैं:—'राजनीतिक स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतन्त्रता का मूल्य उससे छिपा नहीं। साहित्यकार स्वतन्त्र-भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा।' जो लोग साहित्यकार को ठोक-पीटकर प्रचारक बनाना चाहते हैं उनके लिये यह नेत्रोन्मीलक होगा।

सियारामशरण जी इस युग की उपज हैं। इस युग ने अपूर्णताओं और सीमाओं को जो मान दिया है वह और किसी युग ने नहीं दिया था। इस युग के प्राणी को अपनी अपूर्णता पर गर्व है। गुप्तजी ने अपने 'अपूर्ण' 'कवि-चर्चा' और 'नया संस्कार' शीर्षक लेखों में अपूर्ण को मान दिया है। उनके नीचे के वाक्य इस अपूर्ण की प्रतिष्ठा के द्योतक हैं:—

इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है। जिन नववयस्कों की रसना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पक्के रसाल से अधिक रस मिलता है।

इसी मानवता में भारतीय संतोष की वृत्ति भी छिपी हुई है। देखिये:

आनन्द देवता के उदार हाथों से जब जो मिले उसी से सन्तुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हम में और सिर फोड़कर धरना देने वाले मङ्गतों में अन्तर ही क्या रहा।

और देखिये:

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। छोटा ही बड़ा होने का आधार है।

ऐसी सूक्तियाँ किस का उत्साह वर्द्धन नहीं करेंगी? मुझे तो अपनी अपूर्णताओं के लिए विशेषकर नये संस्करणों की काट-छाँट में बड़ा सन्तोष मिलता है। गुप्त जी ने काका कालेलकर को श्रेय देते हुए सुझाया है कि दुष्यन्त जैसे धीर ललित नायक को अपनी प्रियतमा शकुन्तला के चित्र बनाने में काट-छाँट की आवश्यकता पड़ी थी और इस आधार पर वे कहते हैं कि कालिदास को भी अपनी रचनाओं में संशोधन की आवश्यकता पड़ी होगी। क्योंकि कवियों के बहुत से कथन आत्मकथात्मक होते हैं। इस बात में मैं अपने को कालिदास से बढ़ा-चढ़ा मानने का गर्व रखता हूँ। 'घोड़ाशाही' में कवि ने मशीन युग के प्रति गांधीवादी प्रतिक्रिया का बड़े ज़ोरदार शब्दों में परिचय दिया है। देखिये पिछले आक्रमणकारियों और आज के मशीन युग के आक्रमणकारियों की तुलना करते हुए वे लिखते हैं:

आज का घोड़ा और घुड़सवार वैसा नहीं है। शरीर उसका लोहे का, प्राण उसका दानव का। कल्पना का दानव उसमें साकार हो उठा है। सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जांय, तब भी क्या संख्या बल और क्या बर्बरता किसी बात में आज के घोडों का मुकाबला नहीं कर सकते...कितने देश, कितनी सेनाएं, कितने जन समूह उसके खुरों के नीचे पिसे हैं और पिसेंगे, इसका हिसाब नहीं।

इन निबन्धों में विषय-प्रतिपादन की ओर झुकाव कम है। पाठकों को आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने हृदय के रस में मग्न करने की प्रवृत्ति अधिक है। लेखक अपनी बात में चर्वणानन्द लेता हुआ दिखाई देता है। इस कारण एक ही बात को कई प्रकार से व्यक्त करने की ओर झुकाव है। इसके लिए रूपकों और प्रतीकों का सहारा लिया गया है। इनके कारण गद्य भी कवित्व मय हो जाता है। बहुत से स्थानों में बिना रूपकों के भी रस वर्षा होने लगती है। 'छुट्टी' की नीचे की पंक्तियों में करुण रस मूर्तिमान हो उठा है। देखिये !

वह गायों के लौटने का स्वर सुनाई पड़ता है। संध्या हो गयी है। थनों में दूध भर कर बच्चों की माताएं दौड़ी आ रही हैं। मार्ग में गोधूलि फैल गयी है। अंधेरा छाने लगा है। बच्चे मदरसे से लौट कर आ गये हैं। घर घर में संध्या के दीपक जाग उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बंधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय-पट पर अब भी वह अंकित रहेगा। वहाँ स्थान है, वहां से छुट्टी उसे नहीं मिल सकती।

इसमें करुण रस के सभी अंग वर्तमान हैं। बच्चा आलम्बन है उसका बस्ता उद्दीपन है। और सब चीज़ों का भाव बच्चे के अभाव को उग्र रूप से हमारे सम्मुख ले आता है। माता आश्रय है स्मृति और विषाद संचारी हैं। 'वहाँ स्थान है, वहाँ से छुट्टी उसे नहीं मिल सकती' इससे शोक स्थायी का स्थायित्व झलक रहा है। संध्या के शोक मय वातावरण को कई रूपों में उपस्थित करने से उसकी कालिमा के स्तर और भी गहरे हो जाते हैं। इस गद्य खण्ड में सुनार की सी हलकी चोटें है, अन्त में लुहार की भी एक बड़ी चोट है। यह वातावरण गुप्तजी की शैली का सुन्दर नमूना है। कुछ वर्ष हुए एक चीनी औषध विक्रेता का एक विज्ञापन निकला था, उसमें एक मनुष्य के मस्तिष्क में कील ठोकी जा रही

थी। गुप्त जी के छोटे-छोटे वाक्य इसी तरह कील ठोकने का सा काम करते हैं (उदाहरण की वीभत्सता को सियारामशरण जी क्षमा करेंगे।)

गुप्त जी की विचारधारा प्रायः जीवन की किसी साधारण घटना से आरम्भ होती है। इसी घटना के प्रस्तर खण्ड से विचार धारा की जान्हवी का स्रोत वह चलता है। एक अँधेरी रात में पड़े पड़े विवाहोत्सव में छुटाई हुई फुलझड़ी के साथ ही साथ हमको विचारों की फुलझड़ी के दर्शन होते हैं :

विवाह के उत्सव में आज की फुलझड़ी की यह क्रीड़ा करके मनुष्य ने अपनी निर्भयता का ही प्रचार किया है। उसने कहा—भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे-छोटे विन्दुओं से उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रखी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा, जो अथाह है, दुर्लङ्घ्य है, सुविस्तीर्ण है। जहाँ हमारे प्राचीन कवि विस्फोट से भरे हुए इस जीवन-ज्वाला-मुखी के शिखर पर बैठे हुए मानव को जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश दे उसमें निराशा का संचार कर गये, वहाँ मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य की अमर क्रीड़ा-वृत्ति का स्तवन कर आज का कवि हमारे हृदय में आशा का संचार करता है।

चिरायु हों हमारे ऐसे कवि जिन्होंने मृत्यु में भी अमरता के दर्शन कर के 'मृत्योः मा अमृतं गमय' की प्रार्थना को जीवन में चरितार्थ किया है।



सियारामशरण के निबन्ध

[श्री शिवनाथ एम० ए०]

श्री सियारामशरण गुप्त जैसे वैष्णव साहित्यकार के सम्बन्ध में लिखने तो बैठा हूँ, मगर हूँ बहुत ही भीत ! लगता है काम सामान्य आदमी से नहीं पड़ा है !! ऐसे आदमी से काम पड़ गया है जो पहले से ही हमें नालायक समझ बैठा है !!! कहता है—

"हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है । उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिये । उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिये तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा ।" [झूठ सच, पृ० ५२—३७] यहाँ मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आचार्य श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की कृपा से श्री सियारामशरण का 'झूठ-सच' मुझे पूरा ही पूरा मिल गया है, वह क्षतिग्रस्त नहीं है ! इस 'पूरे ही पूरे' 'पूर्ण चंद्र' में मैं क्या देखूंगा यह तो बाद की बात है ! इस समय तो देख रहा हूँ कि 'झूठ सच' के पृष्ठ श्वेत हैं और उन पर काले-काले अक्षर छपे हैं—वैसे ही जैसे चाँद की पीठ पर ज़रा काला-काला लगा है ! मैं श्री सियारामशरण से भीत हूँ, मगर वे मुझसे भीत नहीं, क्योंकि संबुद्धि-संपन्न कवि-कुल गुरु कालिदास धीरज धरने की बातें कह गये हैं—**एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः** । डरने की बात क्या ? श्वेत और कृष्ण एक साथ युग-युग से हैं और रहेंगे । केवल श्वेत-श्वेत तो, कहा जाता है, देवताओं में होता है, मगर उनकी कालिमा उभरी हुई है ! मानव के प्रति उनका ईर्ष्या-द्वेष जग-विदित है ! वे 'देखि न सकहिं पराइ विभूती !' अस्तु साहित्य के क्षेत्र में खतरा तो तब उत्पन्न होता है जब समीक्षक भ्रांतिवश सुफेद को काला और काले को सुफेद देख लेता है । मेरा चश्मा साफ है, अतः डर की बात नहीं !

श्री सियारामशरण ने अपने विषय में एक बात कही है, कही हँसी-हँसी में ही है, मगर कही है, अतः उल्लेख्य है—'**कल के सम्बन्ध में विचार**

घोर नास्तिकों जैसे नहीं, तो सन्देहवादियों जैसे तो निश्चय ही हैं ! मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिये—कल के उधार का खाता खोलने की गुञ्जाइश मुझे कहां ?" [झूठ सच पृ० ६२] बात हँसी-हँसी में ही कही गई है, इसलिये मैं गम्भीर ढंग से कुछ नहीं कहना चाहता—यद्यपि बात कहना गंभीर ही चाहता हूँ ; और वह यह कि जहां तक सच्चे निर्णय की बात है, उसे करता 'कल' ही है, 'आज' को चाहे जितना महत्त्व हम क्यों न दे। 'आज' के सामने चीजें इतनी निकट रहती हैं कि वह तटस्थतापूर्वक उनके सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर पाता। इसी कारण हम देखते हैं कि 'आज' जिन साहित्यकारों की धूम रहती हैं, 'कल' वे अपने अस्थायी तत्त्वों के कारण आंखों से ओझल हो जाते हैं। 'ऐसे ही 'आज' जिन्हें कोई नहीं पूछता, कल वे साहित्यकारों के सिरताज बनते हैं--अपने स्थायी तत्त्वों के कारण तुलसीदास, शेक्सपीयर, आदि साहित्यकारों को विश्व-साहित्यकार 'कल' ने ही बनाया, क्योंकि सच्चा निर्णायक 'कल' होता हैं। 'कल' की परिधि में आकर अतात्त्विकता झड़ जाती है और कुछ सार रहा तो वही शेष रह जाता है, इस प्रकार साहित्य वा साहित्यकार का असली मूल्यांकण होता है। अतः 'मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिये,' यह कहने से लाभ क्या ? सच्चा मूल्यांकण तो कल ही करेगा। फिर, सियारामशरण जैसे प्राणवंत साहित्यकार ऐसा क्यों सोचें। वे बहुत कम लिख पाए, यह ठीक ; मगर जो लिखा है और जितने ढंगों से लिखा है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जीवन और समाज के तत्त्वों को लेकर उन्हें साहित्य का जो रूप उन्होंने दिया है वह काफी प्राणवंत है। इस प्रकार रूप देने का क्रम अभी टूटा नहीं है। यद्यपि क्रम की गति मध्यम है। एक बार उन्होंने कहा भी है। **"साहित्य की मिट्टी लेकर उसमें प्राण-सञ्चार करने की बात कुछ इसी तरह आज भी मेरे मन में चल रही है। कह नहीं सकता, इसी तरह कब तक चलती रहेगी।" (झूठ सच पृ० ६८)**

(२)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने विषय में ये बातें स्वरचित निबन्धों में व्यक्त की हैं, अन्य वैयक्तिक बातें भी इनमें कही गई हैं। इनमें बाल्यकाल की स्मृति, गुरुजनों के संस्मरण, यात्रा तथा अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं के वर्णन, भावात्मक अभिव्यक्ति, वाग्विलास, जीवन, समाज तथा साहित्य-सम्बन्धी तथ्य चिंतन, आदि-आदि भी निहित हैं। इन निबन्धों द्वारा श्री सियारामशरण ने अपने को अभिव्यक्ति किया है। लगता है कि काव्य,

उपन्यास और कहानी में आत्माभिव्यक्ति के लिये स्थान अथवा अवकाश मिलता न देख' इस कार्य की सिद्धि के लिए वे निबन्ध रचना में संलग्न हुए। वैसे साहित्यकार स्वरचित साहित्य में किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त होता है। साहित्य साहित्यकार की छाया है ही। मगर साहित्य के सभी रूपों वा अंगों में वह अपने को खुलकर अभिव्यक्त नहीं कर पाता। काव्य में काव्यतत्व की संनिहिति, कथा तथा नाटक में पात्र और वस्तु की सम्यक् संयोजना तथा उनके सुलझाव, आलोचना में आलोच्य की मीमाँसा पर ही विशेष दृष्टि रखने के कारण उनमें अपने खुले व्यक्तित्व और अपनी चिंतना साहित्यकार स्वतंत्र तथा निःसंकोच रूप से नहीं व्यक्त कर पाता। साहित्य के एक अंग निबंध में इस प्रकार की पूरी स्वतंत्रता, सुविधा तथा पूरा निःसंकोच रहता है। इसी कारण साहित्यकार अपनी वैयक्तिकता तथा चिंतना को प्रस्तुत करने के लिए निबंध को साधन के रूप में ग्रहण करता है। श्री सियारामशरण ने भी ऐसा ही किया है। उपर इसका निर्देश हुआ है कि साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा निबंध में आत्माभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक अवकाश रहता है। कहना तो यह चाहिए कि निबंध की रचना इसलिए होती ही है। खुली अभिव्यक्ति पर ही प्रधान दृष्टि होने के कारण निबंधों में पाठक, श्रोता तथा निबंधकार के बीच काफी सीधा व साक्षात् संबंध थापित होता हुआ दिखाई पड़ता है। काव्य, कथा, नाटक, अलोचना में ऐसा साक्षात् दर्शन कम होता है, कहीं-कहीं तो नहीं भी हो पाता। इस प्रकार ज्ञात होता है कि निबंध के दो प्रधान तत्व हैं एक निबंधकार की वैयक्तिकता तथा चिंतना की उसमें अभिव्यक्ति तथा दूसरा उसके द्वारा श्रोता पाठक और निबंधकार में साक्षात् संबंध स्थापन! खुली अभिव्यक्ति ही निबंध का प्रधान लक्ष्य होने के कारण निबंध की अभिव्यक्ति-पद्धति में भी प्रायः सीधापन देखा जाता है। विशुद्ध कोटि के निबंध में अभिव्यक्ति की अनावश्यक वक्रता कम मिलेगी, क्योंकि उसमें विचारों की अभिव्यक्ति ही प्रायशः करनी पड़ती है। इसी कारण निबंध प्रधानतः विचारसंकुल ही होते हैं। स्मरण रखने की बात है कि यहाँ मैं आधुनिक विशुद्ध निबंधों पर दृष्टि रखकर ही ये बातें कह रहा हूँ। वैसे साहित्य के अन्य अंगों के तत्व एक दूसरे में किसी न किसी रूप में मिलते ही हैं। निबंध में भी काव्य, कथा, नाटक के तत्व प्रसंगतः अल्प रूप में आ जाते हैं, परंतु उसमें प्रधानता विचारों की ही होती है; और इसमें इनका होना ही इसकी सार्थकता है।

(३)

श्री सियारामशरण गुप्त ने अपने निबंध में जो चिंतनाएँ व्यक्त की हैं उन्हें

स्थूलतः तीन कोटियों में रख सकते हैं--जीवन समाज और साहित्य की कोटियों में। जीवन समाज तथा साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने यथाप्रसंग अनेक उपज्ञात चिंतनाएँ उपस्थित की हैं। यहां प्रधान-प्रधान चिंतनाएँ ही संमुख रखना हमारा लक्ष्य है। निबंधकार अपनी 'छतपर' अनेक वस्तुओं और घटनाओं को देखता, सुनता और स्मरण करता है। वह तारे और उनका टूटना देखता है; विवाह की शहनाई और उस अवसर के गीत सुनता है; विवाह के उल्लास—विशेष रूप से वर-वधू के—का स्मरण और उसकी कल्पना करता है; आदि आदि। इन सबका निष्कर्ष वह यह निकालता है—'**भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र से क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पाली है। जीवन के छोटे-छोटे बिंदुओं से ही उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रक्खी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा; जो अथाह है, दुर्लंघ्य है, सुविस्तीर्ण है।**"] (झूठ-सच पृ० १७२) इस प्रकार श्री सियारामशरण ने जीवन को शाश्वत माना है। इसका अंत कभी नहीं होता। ऐसे ही विचार उन्होंने 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष' नामक निबंध में भी संमुख रखे हैं। उन्होंने जीवन को एक अटूट धारा के रूप में ग्रहण किया है, जिसकी कभी समाप्ति नहीं। जीवन जाता है, तो वह आता भी है। ऐसी हालत में उसके जाने की चिन्ता क्यों करें? और, 'नई खेप' के लिए स्थान भी खाली क्यों न करें? ["**हमारा जीवन निरंतर प्रवाहशील है। हम जानते हैं, इसी कारण वह इतना निर्मल है। हम डरें किस लिए कि वह गया। वह गया तो पीछे से और आ भी तो रहा है।**"] (झूठ-सच, पृ० ३३) अतः निबंधकार ऐसे विज्ञान के प्रति आकृष्ट नहीं है जो 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष'' की भी कर सकता है।

जीवन के प्रति यह एक धारामयी दृष्टि और तद्‌गत आशावाद युग-युग से अनेक संघर्षों को जीतते हुए आगे बढ़े चले आने वाले मानव की विजय-यात्रा की स्वीकृति है, जो किसी भी रूप में अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा नकली नहीं है। यह स्वीकृति स्पष्टतः घोषणा करती है कि मानव कितना महान् है! उसने क्या नहीं किया है; और उसके किए द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि वह क्या नहीं कर सकता? श्री सियारामशरण ने मानव जीवन के प्रति जो विचार प्रकट किए हैं वे आधुनिक युग की चिंतना-धारा की प्रधान लहरें हैं।

सिद्धांततः मानव-जीवन के प्रति इतनी आशामयी दृष्टि के साथ ही व्यवहारतः समाज में गिरी, दलित मानवता को देख श्री सियारामशरण के हृदय को

धक्का भी लगता है। ऐसी स्थिति में वे इसके प्रति सहानुभूति तथा समाज के प्रति रोष भी प्रकट करते हुए देखे जाते हैं। 'हिमालय की झलक' में कुली की गिरी अवस्था देख कहते हैं [**'कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिये ? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं।' 'बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे, हमें ले चलिए, हमें !'—उनकी इस कातर प्रार्थना में न जाने क्या बात थी कि जी कांप उठा। उसमें कातरता थी, उसमें धिक्कार था उसमें भर्त्सना थी क्या नहीं था उसमें ?'**] (झूठ सच, पृ० २२०)

श्री सियारामशरण ने समाज में व्याप्त आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामों पर भी कड़े छींटे मारे हैं। 'बहस की बात' नामक निबन्ध का मूल विषय है आधुनिक शिक्षा-दीक्षा द्वारा पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व सिद्ध करने की मनोवृत्ति। विश्वविद्यालयों की शिक्षा दीक्षा तथा न्यायालयों की प्रवृत्ति के संबंध में एक स्थान पर कहा है—[**"इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र क साथ वे (हमारे विश्वविद्यालय) हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राजदरबार में जाकर पूर्वको पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुंचते हैं, उनमें अधिकांश इन संमुख—विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये नये आदर्श अथवा साँचे हैं।** (झूठ सच, पृष्ठ ३) निबंधकार का यह समाज-दर्शन अयथार्थ नहीं है।

'अन्य भाषा का मोह' में श्री सियारामशरण ने अंगरेजों की नकल की हमारी मनोवृत्ति का निर्देश कर छींटे मारे हैं। वे कहते हैं कि हमने अंगरेजों की भाषा सुनी, उनके समान नहीं बोल सके, उन्होंने कहा—'तुम हमारी भाषा समझ नहीं सकते। ऐसा सुन हमने अपने में हीनता का अनुभव किया, और इस प्रकार अँगरेजी भाषा की ओर दौड़े। यह हमारी मानसिक पराजय थी यही घातक हुई; तलवार वाली पराजय तो मामूली थी। हम ने अँगरेज बनने की खूब नकल की—मन से भी और वेशभूषा, आदि से भी, यद्यापि कभी सफल नहीं हुए। हमारी योग्यता अयोग्यता की पहचान अँगरेजी बोलना ही रह गया। हमने अँगरेजों के गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया **"फिर भी हमारे शिक्षित ने किया क्या है—अँगरेज का फोटोग्राफ और ग्रामोफोन अपने ऊपर लादकर वह समझ रहा है, हमने अँगरेज को पा लिया !"**] (झूठ-सच, पृष्ठ ४४] भारतेन्दु-युग के निबंधकारों ने हमारी इस मनोवृत्ति पर खूब लिखा है। द्विवेदी युग के पुनरुत्थान वादी वृत्तिवाले निबंधकारों ने भी प्रधानतः ऐसे ही विषय

लिए हैं। ऐसे सभी निबंधकारों का लक्ष्य हमारे में अपनेपन का बोध कराना, उसे जगाना है। श्रीसियारामशरण की दृष्टि भी यहाँ इसी पर है।

समाज-स्थित एक दूसरे से अपने को दुराने-छिपाने, आत्मगोपन, की मनोवृत्ति पर लक्ष्य कर 'घूँघट में', नामक निबंध में निबंधकार ने कहा है कि ["**कितने कौशल से, कितने आडंबर में, कितनी बनावट में हमने अपने को छिपा रक्खा है, यह हम तक नहीं जानते। उन महिलाओं की तरह ही हम सब के सामने से निकल जाते हैं और देखने वाले समझते हैं, हमने देख लिया, हमने पूरा का पूरा परिचय पा लिया।**"] (झूठ-सच, पृष्ठ १९६) मगर हमारा पूरा का पूरा परिचय कोई पाता नहीं है, यद्यपि पारस्परिक मेल-जोल का हमारा साबका नित्य पड़ता है। इसका कारण यह है कि हम अपने मन की बातें साफ साफ व्यक्त नहीं करते, हमारे मन में कुछ रहता है और हमारी वाणी में कुछ और। हमने अपने मन की बात को छिपाना खूब अच्छी तरह सीखा है। यही हमारी प्रगाढ आत्मगोपन वृत्ति है, जो आधुनिक सभ्यता की देन है। श्रीसिया-रामशरण की दृष्टि इस पर है और वे इस मायावी वृत्ति पर डाँट करते देखे जाते है।

संपादक ने 'धन्यवाद'-पूर्वक लेख लौटा दिया। इस 'धन्यवाद' की चर्चा करते हुए निबंधकार कहता है—["**इसे संभाल कर रक्खूँगा आधुनिक सभ्यता की यह एक बहुत बड़ी देन है। अच्छे में और बुरे में खोटे में और और खरे में, कहीं भी यह बेखटके चलाया जा सकता है।**"] (झूठ-सच पृष्ठ २०६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन तथा समाजगत—सैद्धांतिक और व्यावहारिक—सभी तथ्यों पर निबंधकार की दृष्टि यथा-प्रसंग गई है। किसी भी विषय की चर्चा करते हुए जब जब ये पकड़ में आए हैं तब तब उसने इनकी चर्चा और मीमांसा भी की है। चर्चा और मीमांसा वा चिंतना की पद्धति निबंध-कार की अपनी है, उद्धरणों द्वारा यह बात स्पष्ट है। निबंधकार सारी बातें अपनी दृष्टि से देखता, और अपने ढंग से कहता है। उसकी दृष्टि और पद्धति में मौलिकता का अभाव नहीं मिलेगा। चिंतनाओं को देखने से यह स्पष्ट है कि श्रीसियारामशरण समाज तथा जीवन की ओर प्रवृत्त हैं, उनसे न स्वयं हटना चाहते हैं और न दूसरों को हटाना चाहते हैं। जीवन और समाज में लगे रहना ही वे मानव की सार्थकता मानते है। उनकी चिंतनाएँ जीवन तथा समाज में संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने-बढ़ाने वाली चिंतनाएँ हैं अतः वे प्राणदायिनी हैं।

श्री सियारामशरण की दृष्टि वर्तमान जीवन तथा समाज पर विशेष है, इसे हमने देखा है। हमने देखा है कि हमारे वर्तमान जीवन तथा समाज के वे दूषित पक्ष जिन के द्वारा आज मानवता सही-सलामत नहीं रहती निबंधकार के दृष्टि-पथ में अवश्य आए हैं। मानव के साथ मानवता का बर्ताव न करने वाली वर्तमान स्वार्थ से दूषित वृत्तियों पर निबंधकार के छींटे कड़े हैं। तात्पर्य यह कि प्रधानतः वर्तमान समाज तथा जीवन की पीठिका पर ही श्री सियाराम-शरण की चिंतनाएँ आधृत हैं। वर्तमान समाज में सर्वत्र व्यापी 'घोड़ेशाही' वृत्ति का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—[**"कौन है वह स्थान, कौन है वह देश, जहां का मानव कहीं खुले में कहीं छिपकर, आज की घोड़ेशाही (पूंजीवाद, यंत्रवाद, बर्बरता का प्रतीक) से पीसा न जाता हो। संसार की अंतरात्मा का दम आज भीतर ही भीतर घुट रहा है। सारे का सारा आकाश आच्छादित है, चिमनियों के सफेद और काले धुंए से। मनुष्य के ऊपर आज से बढ़कर संकट कभी नहीं आया।"**] झूठ-सच पृष्ठ १६२) [**"सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जाँय, तब भी, क्या संख्या बल और क्या बर्बरता—किसी बात में—आज के घोड़े का मुकाबला नहीं कर सकते।"**] वही पृष्ठ १६३)

(४)

जिस दृष्टि तथा पद्धति से श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाजगत तथ्यों के संबंध में चिंतनाएँ की हैं, उन्हीं का उपयोग उन्होंने साहित्यगत चिंतनाओं में भी किया है। उनकी साहित्य संबंधी चिंतनाएँ भी जीवन तथा समाज संबंधी चिंतनाओं की भाँति ही प्राणवती हैं। वे भी हमें आगे बढ़ाने वाली हैं। साहित्यिक तथ्यों को संमुख रखते हुए श्री सियारामशरण ने जीवन तथा समाज को छोड़ा नहीं है, वे सदैव इनके साथ चले हैं। जीवन तथा समाज गत यथार्थ पर उनकी आँखें सदैव और सर्वत्र गड़ी हैं। इसी कारण उन्होंने 'शुष्को वृक्षः' नामक निबंध में बाणभट्ट के कनिष्ठ पुत्र को कल्पना-लोक का प्राणी कहा है, जिसने ठूँठ को भी देखकर कहा था—"नीरस तरुरिह विलसति पुरतः।" जैसे उसने ठूँठ को देखा ही नहीं, यथार्थ को देखा ही नहीं और कल्पना द्वारा यह अभिव्यक्ति कर दी। ठूँठ का उसके ऊपर प्रभाव ही नहीं पड़ा, ज्येष्ठ पुत्र पर इसका प्रभाव पड़ा क्योंकि वह यथार्थ-द्रष्टा है, इसी कारण उसने कहा "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" इसी प्रसंग में निबंधकार ने यह भीं कहा है कि कोमलता में ही नहीं, कठोरता में भी रस है।

जीवन तथा समाज के साथ ही साहित्य को ले चलने के हिमायती होने

के कारण ही श्री सियारामशरण के विचारों का मेल कोरे साहित्य वादियों के विचारों से नहीं खाता जो साहित्य के क्षेत्र से निकल कर समाज के संघर्षों के बीच नहीं पड़ना चाहते, जो साहित्य को समाज के संघर्षों के बीच नहीं लाना चाहते जो साहित्य को दरबार अथवा ड्राइंगरूम तक ही परिमित रखना चाहते हैं) श्री सियारामशरण का पक्ष है कि 'साहित्य' की रचना दरबार में नहीं हो सकती कोई भी ज़बरदस्ती साहित्य की रचना नहीं करा सकता, क्योंकि **"साहित्य की प्रकृति स्वतंत्र है।"** (झूठ-सच, पृष्ठ ८६) साहित्य को राजनैतिक पर अविश्वास नहीं करना चाहिए, उसकी बातें भी अनुचित नहीं हैं वह कहता है—**"आओ बाहर निकल कर देखो। वह इतनी बड़ी मानवता उत्पीड़ित होकर भय से, अत्याचारसे और सबसे बढ़ कर अपमान की असह्य लज्जा से मूक होकर खड़ी है। उसे तुम अपना कंठ स्वर दो। इस विलास-गृह की अपेक्षा वहां तुम्हारी आवश्यकता अधिक है।"** (झूठ सच, पृष्ट ८७) 'साहित्य और राजनीतिक' नामक इस निबंध के अन्त में निबंधकार ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया हैं..."राजनीतिक स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतन्त्रता का मूल्य उससे छिपा नहीं। साहित्यकार स्वतन्त्र भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा। बने हुए दरबारी से उसका समाधान नहीं हो सकता।" (वही पृष्ठ ६१)

श्री सियारामशरण साहित्य के क्षेत्र में चमत्कारवाद को रंचमात्र भी स्थान नहीं देना चाहते। वे इसे साहित्य क्षेत्र की वस्तु स्वीकार ही नहीं करते। साहित्यकार को भी वे इससे दूर हुआ देखना चाहते हैं। कहते हैं—**"साहित्य-साधक को हम पैगम्बर हुआ नहीं देखा चाहते। अपने आप में ही वह कुछ छोटा नहीं है। आशुरचना का चमत्कार दिखा कर किसी को मुग्ध करने की आवश्यकता ही उसे कौन सी? उसकी अपनी साधना से बढ़ कर दूसरा कोई चमत्कार नहीं हो सकता।"** (झूठ-सच पृष्ठ १२४) **"साहित्य का उद्देश्य कोरे चमत्कार के ऊपर नहीं टिका है। यही गुण यदि उसका सर्वोपरि गुण होता, तब बाजीगरों के काम की गणना भी साहित्य में हुई होती। ऐसा साहित्य जीवित नहीं रह सकता।"** (वही पृष्ठ १५३)

साहित्य सम्बन्धी विशुद्ध सैद्धांतिक बातें भी श्री सियारामशरण ने कही है। मगर स्मरण यह रखना है कि इस तरह की बातें सिद्धान्त स्थापन करने के लक्ष्य को दृष्टि पथ में रख कर कभी नहीं कही गई। ये प्रसंग से ही अभिव्यक्त हुई हैं। अभिप्राय यह कि इन्हें अभिव्यक्त करते हुए श्री सियारामशरण साहित्य-

शास्त्री के रूप में हमारे संमुख उपस्थित नहीं होते, वरन् कारयित्री प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं, जो समीक्षा के क्षेत्र की बातें भी कह सकते हैं—अपने अध्ययन, मनन, अनुभूति, आदि के आधार पर। यहां ध्यान इस पर रखना है कि रचनाकार द्वारा कही गई साहित्य-सिद्धांत सम्बन्धी बातों में शास्त्रीयता की चाहे कमी हो, मगर उनमें उसकी अपनी अनुभूति का प्राधान्य रहता है, क्योंकि रचना करने के दरम्यान एतत्संबंधी उसे अनेक अनुभव होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार द्वारा कही गई साहित्य-सिद्धांत सम्बन्धी बातों में आत्मकता (सब्जेक्विटी) अधिक होती है और परात्मकता (आब्जेक्टिविटी) कम। श्री सियारामशरण की साहित्य-सिद्धांत सम्बन्धी बातों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। कवि के सम्बन्ध में वे कहते हैं— **"कवि में वही एक बड़ा दोष होता है कि जाग उठने पर वह अपने भीतर का ही देखना सुनना पसन्द करता है, बाहर से जैसे उसे कोई सरोकार नहीं रहता।"** (झूठ-सच, पृष्ठ ७८)। रचना वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार में रचना की ओर जो संलग्नता होती है, उसी को दृष्टि-पथ में रख कर कवि के सम्बन्ध ये बातें कही गई हैं। रचना-वृत्ति के उदय होने पर रचनाकार सर्वत्र से अपने को समेट कर अपनी समान रचना में ही लगाता है—जैसे उसके चारों ओर कुछ हो ही न रहा हो। कवि के सम्बन्ध में ये बातें भी उन्होंने कही हैं—**"कवि विधाता की असाधारण सृष्टि है। अथवा कहना यह चाहिए कि कवि सृष्टि न होकर स्रष्टा के रूप में ही अपने आप प्रकट हुआ है। उसका गौरव उसी में है; किसी वाह्य सज्जा की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती।"** (झूठ-सच पृष्ठ १२)

पद्य को 'साहित्य की वाणी' कहा है और गद्य को उसका 'कर्तव्य'। (झूठ सच, पृष्ठ १२) 'पद्य कोमलता का प्रतीक है और गद्य पौरुष का।' (वही पृष्ठ, १३) निबन्धकार ने गद्य को 'दुनियादार' कहा है, जो तुरत किसी पर विश्वास नहीं कर लेता, 'तर्क वितर्क' जिसका प्रधान आधार होता है, जिसके कारण किसी के "आँसू देख कर हीं वह द्रवित नहीं हो जाता।" वही पृष्ठ है— **"आज कल की बहुत सी कविताएं बिना नाम या बिना शीर्षक की भी दिखाई देती हैं गद्य की परुषता से उन्हें बचाने के लिए ही ऐसा किया जाता है।... वे छोटी कविताएं जिनका नामकरण नहीं होती, कवि की हृदय भूमि में इसी प्रकार उपस्थित होती हैं। नाम और पते के बिना ही वे अपना काम कर जाती हैं।"** (वही, पृष्ठ १४)। यह श्री सियारामशरण का मत है। बिना

शीर्षक की छायावादी, रहस्यवादी कविताओं का अर्थ निर्णय करने में कितना अनर्थ हो जाता है और उनके कितने अर्थ हो जाते हैं, यह किसी अर्थ लगाने का व्यापार करने वाले—मतलब अध्यापक—से छिपा नहीं है ! श्री सियाराम-शरण को इस जाति के प्राणियों पर भी तनिक ध्यान रखना चाहिए था ! मैं 'गद्य' में कुछ कह गया क्या ?

(५)

यथा-प्रसंग मैंने निबन्ध में वैयक्तिकता तथा चिंतना की अभिव्यक्ति की चर्चा की है। इसमें विचारात्मकता के प्राधान्य की बात भी कही गई है। निबन्धकार तथा पाठक और श्रोता में साक्षात्संबंध-स्थापन की वृत्ति के कारण इसमें प्रायः अभिव्यक्ति के सीधेपन का उल्लेख भी हुआ है । निबन्ध की इस प्रकार की भूमिका में हमने श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों में प्रवाहित जीवन, समाज और साहित्य सम्बन्धी चिंतना-धारा को देखा है । अभिव्यक्त चिंतनाओं के देखने से ज्ञात होता है कि वे उपज्ञात अथवा मौलिक हैं। उप-ज्ञात अथवा मौलिक इस दृष्टि से कि श्री सियारामशरण की सभी बातों तक पहुँच अपने प्रस्थान से चल कर हुई है। जीवन समाज और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जो अनुभव किया है; जिसे उचित समझा है, जो मंगलकारी है उसे निःसंकोच भाव से और अपनी पद्धति से व्यक्त किया है। इन चिन्तनाओं की गहराई और ऊँचाई के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है । इस संबंध में मेरा यही वक्तव्य है कि श्री सियारामशरण अपनी चिंतनाओं के क्षेत्र में जितने

१६) इसी सिलसिले में श्री सियारामशरण ने कहा है कि किसी रचना का 'उपयुक्त' शीर्षक लगाना बहुत ही समझदारी और कुशलता का काम है। "रचना के नामकरण में लेखक को कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।" ऐसा करते हुए "वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने वस्तु के अपेक्षित मूल्य का आंशिक ही दिया है, सम्पूर्ण नहीं।" (वही, पृष्ठ ११) । रचना के नामकरण की इस दुसाध्यता के कारण ही कम ही रचनाओं पर उयुक्त शीर्षक लग पाते हैं। निबन्धकार को 'एक शीर्षक' पर विचार करते हुए ही ये सारी बातें कहनी पड़ी हैं। एक कवि ने अपनी कविता का नाम 'उपेक्षिता सुनंदा' रख दिया। श्री सियारामशरण का कथन है कि 'सुनंदा' से ही काम चल जाता, 'उपेक्षिता' भी लगा देने से तो रचनाकार की गद्य-प्रवृत्ति व्यक्त हो गई, और इस गद्य के विषय में निबंधकार के विचार हमने अभी देखे हैं। ऐसी स्थिति में निबंधकार रचना को बिना शीर्षक के ही रहने देने की ओर रुनू है और कहना

गहरे और ऊँचे जा सके हैं उतने गहरे और ऊँचे जाकर पूरी सचाई के साथ उन्होंने इन्हें हमारे सम्मुख रख दिया है। ऐसी स्थिति में निबंधकार में चिंतनाओं की अभिव्यक्तिगत सचाई, निःसंकोच मौलिक पद्धति, आदि का ही महत्व है, चिंतनाएँ चाहे उच्च कोटि की हों, चाहे मध्यम कोटि की। श्री सियारामशरण की चिंतनाएँ निम्न कोटि की नहीं हैं, इसे तो स्वीकार ही कर लेना चाहिये। यही मौलिकता निबंध का प्राण है, यही निबंध को असलियत और खरापन देता है। इसके साथ ही विचारों की गहराई और ऊँचाई ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों निबंध की विशेषता भी बढ़ती जाती है।

निबंध के विषय में एक जिज्ञासा उठती है, जो स्वाभाविक भी है, वह यह कि निबंध को रचनात्मक (क्रिएटिव) साहित्य मानें अथवा समीक्षात्मक (क्रिटिकल) साहित्य ? क्योंकि निबंध की परिमित में तो ये दोनों प्रकार के ही साहित्य आते हैं, समीक्षात्मक निबंध भी तो निबंध ही हैं। निबंधगत मौलिकता, चिंतना, आदि की चर्चा हम कर चुके हैं। वे विशुद्ध निबंध जिनमें ये तत्त्व मिलते हैं रचनात्मक साहित्य की कोटि में स्वीकृत हैं ही, उनके संबंध में तो विवाद है ही नहीं। मेरा मत है कि समीक्षात्मक निबंध भी एक प्रकार की रचनात्मकता होती है, अतः यह भी निबंध की कोटि में रखा गया और रखा जाना चाहिये ही। समीक्षात्मक निबंध में यदि निबंधकार का अध्ययन, मनन-मात्र व्यक्त हुआ तो वह उसकी अर्जित वस्तु हो गई; मौलिक नहीं। इस कोटि के निबंध में मौलिकता तो तब आएगी जब निबंधकार अपने अध्ययन, मनन के आधार पर कुछ नई, अभूतपूर्व वस्तु कहेगा। यह नवीनता वा मौलिकता कई प्रकार की हो सकती है। साहित्य के सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक किसी अंग की व्याख्या (इएटरप्रिटैशन) हो सकती है, नवीन सिद्धान्त का निर्धारण हो सकता है, आदि-आदि। समीक्षात्मक निबंधगत इन तत्त्वों में क्या मौलिकता, नव निर्माण नहीं है ? यदि है तो समीक्षात्मक निबंधों में भी रचनात्मकता स्वीकार करनी चाहिये; और इसी कारण वे निबंध की कोटि में आते भी हैं। ऐसे निबंधों में मीमांसा का प्राधान्य होता है, रसात्मकता का प्राधान्य नहीं, इस कारण इन्हें रचनात्मक कोटि में नहीं रखना चाहिए, एक पक्ष ऐसा कह सकता है। मगर इनमें जिस ढंग की मौलिकता वा रचनात्मकता है, उस पर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती ?

(६)

श्री सियारामशरण गुप्त के निबंधों के प्रकारों की ओर एक स्थान पर मैंने संकेत किया है। स्थूलतः इनके प्रकार ये हैं—

(१) स्मृति संबंधी अथवा संस्मरणात्मक—(बाल्यस्मृति, मुंशीजी नामक निबंध संस्मरणात्मक हैं जिनमें मुंशी अजमेरीजी के संस्मरण हैं।) संस्मरणात्मक निबंधों की विशेषता यह होती है कि संस्मरणय व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ ही निबंधकार के व्यक्तित्व का भी काफी उद्घाटन होता है। इसमें श्री सियारामशरण के व्यक्तित्व का जितना उद्घाटन होना चाहिये उतना नहीं हो सका। मुंशीजी के व्यक्तित्व को व्यक्त करने पर ही निबंधकार की दृष्टि रही।

२—वर्णनात्मक (हिमालय की झलक, घूंघट में,)—ऐसे निबन्धों में वस्तुओं तथा व्यक्तियों आदि का वर्णन है। वर्णन की प्रधानता के कारण ऐसे निबंध काव्य-तत्त्व से प्रभूत मात्रा में युक्त हैं। निबंधकार की दृष्टि वर्णन करते समय प्रायः सजीव चित्र उपस्थिति करने पर है।

३—भावात्मक (छुट्टी, कवि-चर्चा)—ऐसे निबंधों में निबंधकार की भावुकता की अभिव्यक्ति प्रवाहमयी शैली में हुई है।

४—कथात्मक (झूठ-सच)—अनेक निबंधों में आंशिक रूप से श्री-सियारामशरण ने कथा का सहारा लिया है, जैसे 'बहस की बात' 'एक दिन,' 'छुट्टी', 'उसकी बोली', आदि निबंधों में। 'झूठ-सच' नामक रचना को कथात्मक निबंध कह सकते हैं। यद्यपि यह मुझे कहानी ही लगती है।

५—वाग्विलासात्मक (ऋणी, घोड़ाशाही, निज कवित्त)—श्री सियारामशरण के निबंधों की यह कोटि निर्धारित करते समय मेरी दृष्टि विषय पर विशेष ध्यान न देते हुए मन की तरंगवश कुछ कहते जाने वाले निबंधों पर है। ऐसे निबंधों में विषय का सहारा मात्र ले वाग्विलास उपस्थित हुआ है। लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है, प्रो० मनोरंजन ने अंगरेजी के वैयक्तिक निबधों (पर्सनल एसेज़) को दृष्टि में रखकर इस प्रकार के निबंधों का स्वरूप-निर्धारण करते हुए 'विशाल भारत' में एक निबन्ध लिखा था। उसमें कहा था कि वैयक्तिक निबंध ऐसे ही लिखे जाते हैं, अर्थात् वे अप्रयत्नतः, स्वाभाविक रूप से मन की तरंग में ही लिखे जाते हैं। वाग्विलासात्मक निबन्धों से मेरा तात्पर्य इसी प्रकार लिखे गए निबन्धों से है।

६—आत्मप्रधान (आशु-रचना, अपूर्ण;)—ऐसे निबन्धों से मेरा तात्पर्य ऐसी रचनाओं से है, जिनमें निबन्धकार के व्यावहारिक जीवन, उसके सामाजिक सम्बन्धों-मित्र-सम्बन्धी, आदि,-उसके जीवन की घटनाओं का उल्लेख यथा प्रसंग खुले-खुले होता है। स्मृति-सम्बन्धी तथा संस्मरणात्मक निबन्धों को

भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। अंग्रेज़ी के वैयक्तिक निबन्धों में इस प्रकार के आत्म-तत्त्व को बहुत प्राधान्य देते हैं। उनमें आत्म-तत्त्व (पर्सनल एलीमेंट) से प्रधान रूप से यही समझा जाता है।

७—विचारात्मक (एक शीर्षक, मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष, अन्यभाषा का मोह, साहित्य और राजनीतिक, साहित्य में क्लिष्टता;)—श्रीसियारामशरण के ऐसे ही निबन्ध अधिक हैं। इनके कुछ निबंध ऐसे है जिनमें विचारात्मकता के साथ ही यत्र-तत्र वाग्विलास भी है, जैसे, 'शुष्को वृक्षः' 'घोड़ाशाही' में।

(७)

अपने निबन्धों को प्रस्तुत करते समय श्री सियारामशरण गुप्त की दृष्टि प्रधान रूप से अंगरेजी के वैयक्तिक निबन्धों की विधान-विधि पर है, ऐसा जान पड़ता है। भारतेंदु-युग द्विवेदी-युग, छायावाद-रहस्यवाद-युग, और वर्तमान युग में भी जो वैयक्तिक निबन्ध हिन्दी में प्रस्तुत हुए उनका स्वरूप वैयक्तिकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है—विशेषतः भारतेंदु-युग के निबन्धों का। अंगरेजी के वैयक्तिक निबन्धों की भाँति इस (भारतेंदु) युग के निबन्धों में भी निबन्धकार का खुला व्यक्तित्व आता था। यहाँ व्यक्तित्व से मेरा तात्पर्य निबन्धकार के सामाजिक सम्बन्धों, किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति, आदि के सम्बन्ध में स्पष्टतः बिना दुराव के उसके विचारों की अभिव्यक्ति से है। इस विषय में इस युग के निबन्ध—विशेषतः भारतेंदु, हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के—अंगरेजी के वैयक्तिक निबन्धों से खूब मेल खाते हैं। मगर छायावाद-रहस्यवाद-युग तथा वर्तमान-युग के निबन्धों में जो इस प्रकार की वैयक्तिकता आई है वह अंगरेजी के वैयक्तिक निबन्धों की देखा-देखी। इन युगों के निबन्धकार अपने निबन्धों में वैयक्तिक तत्त्वों की निहिति का ढंग देखने-सुनने भारतेंदु-युग के निबन्धों के निकट नहीं गए। वे सीधे अंगरेजी के इस प्रकार के निबन्धों की ओर ही मुड़े। इसका कारण यह है कि द्विवेदी-युग में इस ढंग के वैयक्तिक निबन्ध एक प्रकार से रचे ही नहीं गए। इस युग में जीवन तथा समाजगत रूखी पवित्रता, ठोस वस्तुवाद, आदि की चिंतना-धारा के प्रवाहित होने के कारण साहित्य में विचारात्मकता का ही प्राधान्य रहा। अतः निबंधों में उक्त ढंग की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति के पक्ष में निबंधकार न जाकर अपने विचारों को सामने रखने की ओर ही गए, जो प्रधानतः अध्ययन मनन प्रसूत थे, जो स्वानुभूति की तुलापर नहीं रखे जासके थे। द्विवेदी-युग में निबंध का मतलब ही था साहित्य का वह प्रकार जिसमें विचार ठूँस-ठूँस कर भरे गए हों, बस। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी किन्हीं अंशों में इस दृष्टि के भी कायल थे—यद्यपि निबंध के संबंध

में वे अन्य तत्त्वों के भी पक्ष में थे। उस युग में वैयक्तिकता का मतलब था किसी विषय में अपने विचार व्यक्त करना। मगर यह तो निबन्धकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एक पक्ष हुआ। भारतेंदु-युग तथा वर्तमान-युग में निबन्ध में वैयक्तिकता की निहिति का जो तात्पर्य समझा जाता है वह यह नहीं है। तो, द्विवेदी-युग के निबन्धों में विचारात्मकता के प्राधान्य के व्यवधान के कारण छायावाद-रहस्यवाद तथा वर्तमान-युग में वैयक्तिकता देखने-सुनने के हेतु निबंधकार भारतेंदु-युग में नहीं गए, वे इसके लिए अंगरेजी के आधुनिक निबन्धों की ओर गए। श्री सियारामशरण गुप्त ने भी ऐसा ही किया।

हिन्दी में उस प्रकार के वैयक्तिक निबंध लगभग दस-बारह वर्ष पूर्व से लिखे जाने लगे हैं। इस क्षेत्र में सर्व श्री गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रो० मनोरंजन, जैनेन्द्र—कुमार, प्रभाकर माचवे आदि निबंधकारों ने काम किया है और इनमें से कुछ अब भी कर रहे हैं। श्री सियारामशरण गुप्त भी इनमें से एक हैं।

श्री सियारामशरण के निबंधों में विचारात्मक निबन्ध अधिक हैं इसे हमने देखा है। इनके निबंधों के अन्य प्रकार भी हमने देखे हैं, उनमें भी तो विचार व्यक्त हैं ही। मगर उन के द्वारा द्विवेदी-युग के निबंधों की भाँति श्रोता वा पाठक पर विचारों का बोझ नहीं लदता। उनमें विचारों की अभिव्यक्ति होते हुए भी श्रोता वा पाठक पर उनका बोझ लदा नहीं जान पड़ता। इसका कारण विचारों की अभिव्यक्ति की पद्धति में हलकापन—सीधापन (लाइटनेस आव ट्रीटमेंट) है, जो अँगरेज़ी के आधुनिक निबंधों की प्रधान विशेषता है। वस्तु-विधान-पद्धति पर ही अधिक जोर देने के कारण यह भी कहा गया कि वस्तु की प्रधानता नहीं है प्रधानता वस्तु को जिस विशिष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं उसकी है; अतः निबंध के विषय पर ध्यान ही नहीं दिया गया। सामान्य से सामन्य विषय लेकर भी ऊँची से ऊँची और गहरी से गहरी बातें—कही गईं। ऐसी स्थिति में विषयांतर को भी आश्रय दिया गया, कहीं-कहीं महत्त्व भी। श्रीसियारामशरण ने अँगरेजी निबंधों के ये तत्व अत्यल्प रूप में लिए, यह अच्छा ही किया। वाग्विलासात्मक निबंधों में यत्र तत्र विषयांतर मिलेगा, अन्यत्र नहीं। विषय या वस्तु पर आप की दृष्टि बराबर है। ऐसा करते हुए सामान्य से सामान्य विषय लेकर भी आपने ऊँचाई तथा गहराई की बातें कही हैं। अँगरेजी निबंधों की विधान-पद्धति पर आप की दृष्टि अवश्य है।

सिबंधों में विचारात्मकता होते हुए भी वे बोझिल नहीं हैं। श्रोता वा पाठक अनायास उनको ग्रहण करता जाता है।

विधान-विधि के हलेकपन वा सीधेपन में अन्य तत्त्व भी सहायक होते हैं जिनमें से कुछ ये हैं—खुले व्यक्तित्व की निहिति; श्रोता तथा पाठक और निबंधकार में भावित नैकट्य हास्य व्यंग्य-विनोद, अविधान, काव्य-तत्त्व की निहिति; आकर्षक भाषा शैली, आदि। कहना न होगा कि आधुनिक वैयक्तिक निबंधों में इन्हीं तत्त्वों के कारण उनमें रचनात्मक साहित्य के गुण अधिक से अधिक आ सके हैं।

निबंधों में खुले व्यक्तित्त्व की निहिति के कारण उनमें कम मनोरंजकता नहीं आती। बात यह है कि श्रोता और पाठक जिस साहित्यकार की रचना पढ़ते हैं उसके व्यक्तित्व के विषय में जानने के लिए उत्सुक रहते हैं और उसकी ही रचना में उसी द्वारा कही गई अपने यक्तित्व संबंधी बातों से उनकी उत्सुकता की शांति हो जाने पर उन्हें एक प्रकार के आल्हाद का अनुभव होता है। श्री सियारामशरण जी के निबंधों में इस प्रकार के व्यक्तित्व की निहिति सर्वत्र मिलेगी। (झूठ-सच पृष्ठ १८, १६)।

श्रोता तथा पाठक और निबंधकार में भावित नैकट्य के कारण निबंधकार यथा-प्रसंग यह मानकर चलता है कि जिनके लिए वह लिख रहा है वे उसके संमुख हैं। वह उनसे कहता, बोलता, संलाप करता सा जान पड़ता है। एक उदाहरण देखें: "जितने वर हैं सब इसी जैसे हैं। पर विस्मय हुआ, जब आज एक ऐसा वर भी दिखाई दे गया जो चाहता है उसके वे ढाई दिन कभी समाप्त न हों। समझ में उसकी बात आ नहीं रही है। हो सकता है कोई गहरी बात हो। शायद आप में से कोई साहब समझा सकें। समझा सकेंगे ?" (झूठ-सच, पृष्ठ २०३)। आधुनिक निबन्ध का एक तत्त्व यह भी माना गया है कि निबन्ध ऐसा हो जो पढ़ने में अपने सगे साथी का पत्र पढ़ने जैसा लगे, अर्थात् उसमें विचारों के बोझ का अनुभव न हो, उसके पढ़ने में अपनेपन का अमुभव हो।

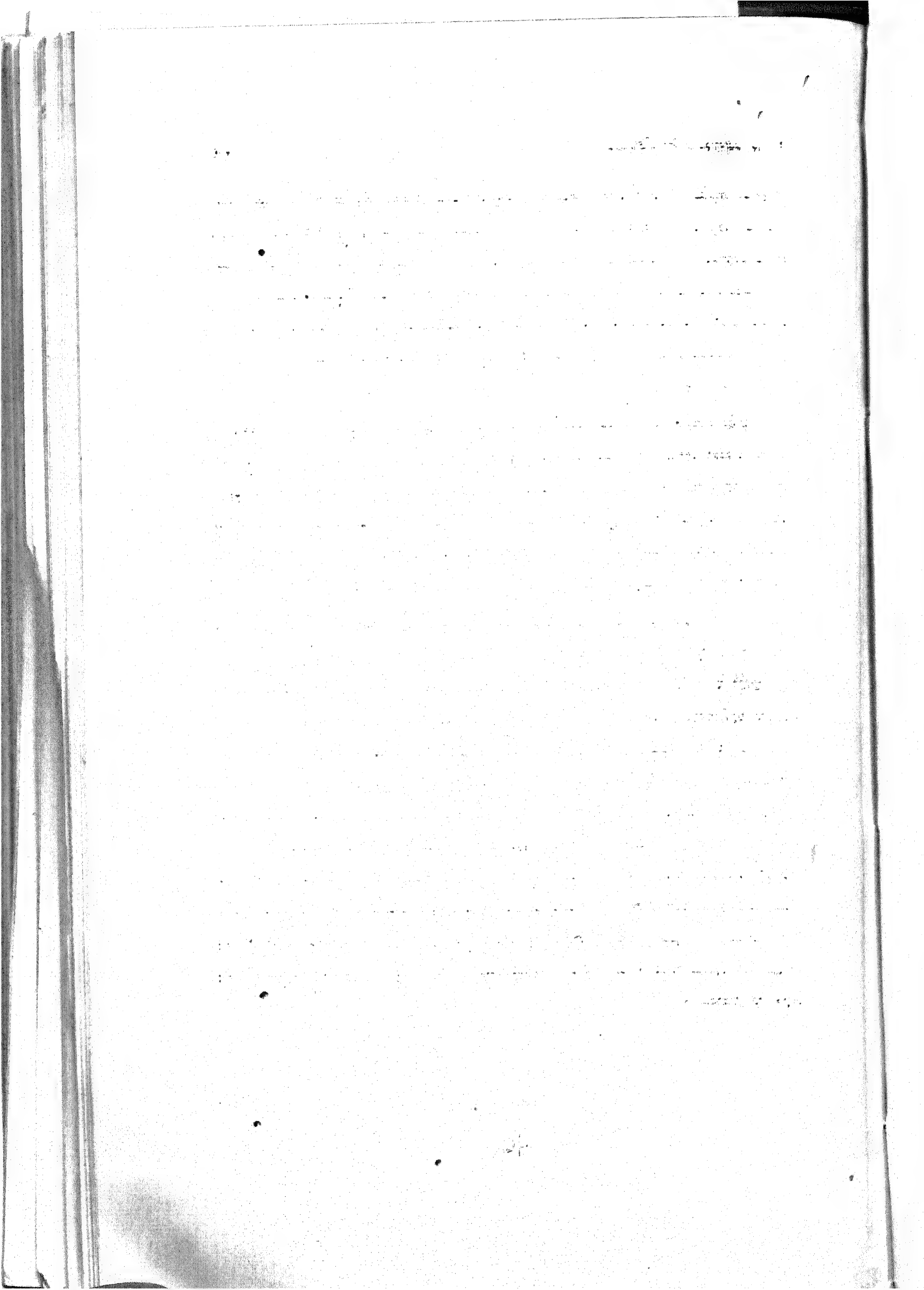
हास्य-व्यंग्य-विनोद तो श्री सियारामशरण के निबन्धों में सर्वत्र मिलेगा। जीवन तथा समाज के लिए अनावश्यक तत्वों पर वे व्यंग्य तो बराबर कसते गये हैं। हास्य और विनोद की कमी भी उनमें नहीं है। एक स्थान पर कहते हैं—

["बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय, तो भला यह भी कोई बात हुई !"] (झूठ—सच, पृ० ५), ऐसे हास्य में श्री सियारामशरण का सरल व्यक्तित्व झलक जाता है। कभी कभी अपने को ही आलं-बन बनाकर हास्य की अभिव्यक्ति की है—"यह मेरी पहली मौलिक कल्पना भी। बड़े-बड़े पंडित और बड़े-बड़े कर्मठ भी जिस समस्याका समाधान जीवन भर नहीं कर पाते हैं, सुनिए निरे बचपन में उसे मैंने किस विचित्र रीति से सुलझाया था।" (वही, पृ० ६०)।

इनके निबंधों में काव्यात्मक स्थल प्रायः मिलते हैं। श्री सियारामशरण का कवित्व प्रसंग आने पर चूका नहीं है। (वही पृ० ५६-५७, १७३)। आधुनिक निबन्धों के विषय में यह भी कहा गया कि उनके पढ़ने में वही आनंद मिलना चाहिए जो काव्य के पढ़ने में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आनंद की सृष्टि निबंधों की विधान-विधि पर ही आश्रित है। श्री सियारामशरण के निबंधों में यथा-प्रसंग यह तत्व भी प्रभूत मात्रा में मिलता है।

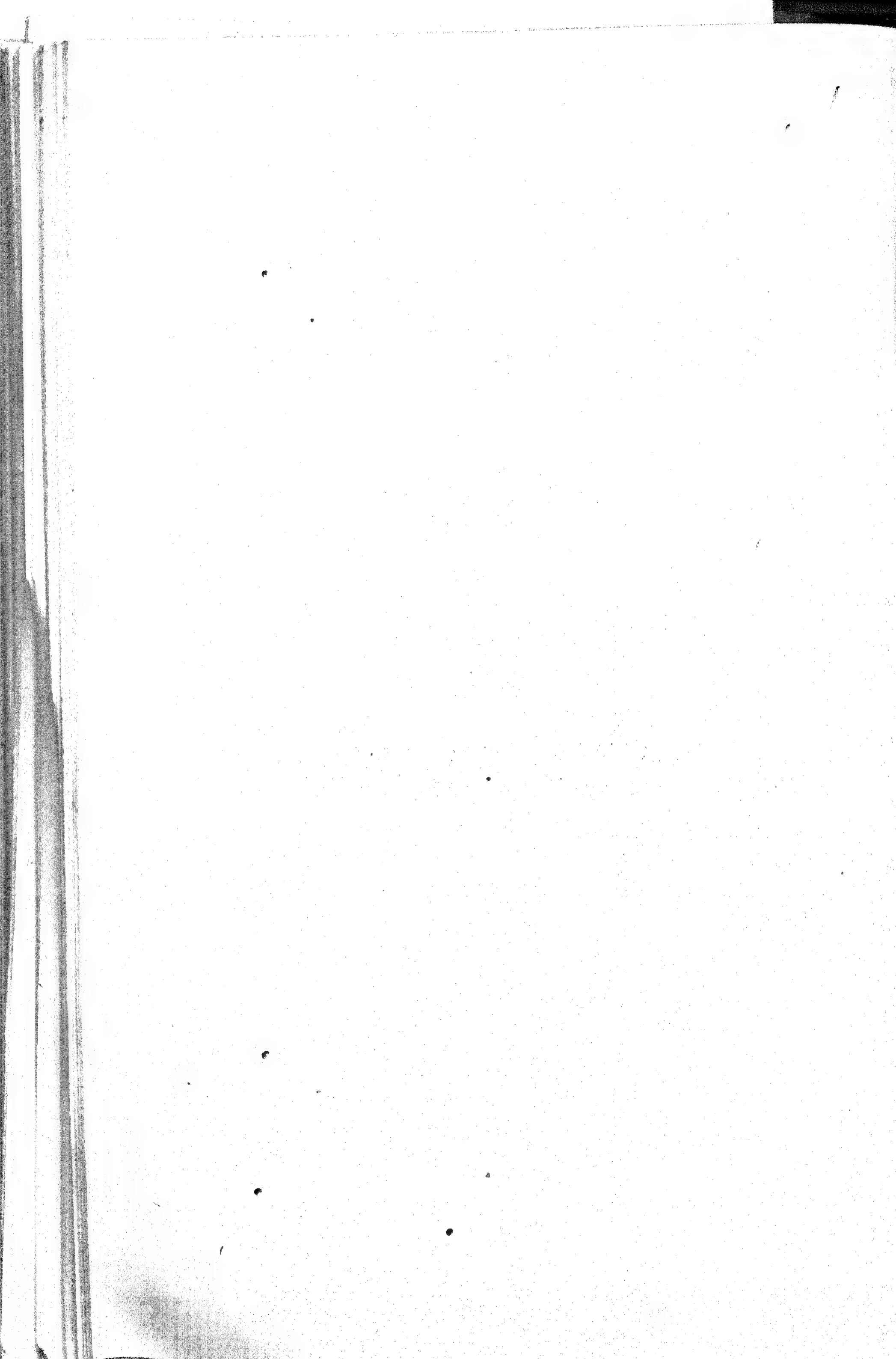
श्री सियारामशरण की भाषा-शैली बहुत ही आकर्षक है। जैसे सीधे सरल वे हैं वैसे ही सीधे-सरल छोटे छोटे उनके वाक्य भी होते हैं। विचारों की भाँति ही वाक्यों में भी कहीं उलझन नहीं मिलती। अपने सीधे-सरल वाक्यों में ही उन्होंने अभिव्यक्ति का स्वाभाविक—न चौंकानेवाला बांकपन भरा है, जो कम आक-र्षक नहीं है। कहते हैं—"बहस कभी **बात की बात** पर चल पड़ती है।" (झूठ-सच, पृ० २)। एक सूत्रात्मक वाक्य देखिये—तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। (वही पृष्ठ ५)—अर्थात् तर्क वाद-विवाद; युद्ध, झगड़े आदि की जड़ है। ये सभी इसके परिणाम होते हैं। अपनी भाषा शैली में भंगिमा लाने के लिए उन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों प्रयोग मौजू जगहों पर किया है— "पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया" (वही, पृ० ५०)। इस प्रकार शैली को आकर्षक बनाने वाले प्रायः सभी आवश्यक तत्व श्री सियारामशरण गुप्त की शैली में मिलते हैं।

★



भाग ३

प्रमुख कृतियां



बापू-विमर्श

[प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम. ए.]

The man that hath no music in himself
Nor is moved with concord of sweet sounds,
Is fit for treason, stratagems and spoils,
The motions of his spirit are dull as night.

(*Shakespeare*)

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू' कवि की अन्तरात्मा का संगीत है। कोई भी सहृदय व्यक्ति इस कृति की संगीतात्मकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। गुप्तजी शुद्ध मानवता के कवि हैं, इसलिए मानवता के प्रतीक उस महात्मा से घुल-मिलकर एकाकार होने में उनकी आत्मा तल्लीन है। कवि की इस रचना में वस्तुतः मानवता ही झंकृत हुई है। सच्चा गीति-काव्य केमरे के लैन्स की तरह कवि के मानस का चित्र उतार लेता है। श्री सियारामशरण के बारे में यदि हम कुछ भी न जानते हों तो भी केवल 'बापू' पढ़कर हम उनके अन्तःकरण की झलक पा जायँगे। यदि आन्तरिक भावों का स्पष्ट प्रकाश ही गीति-काव्य का प्रधान लक्षण है तो निःसन्देह 'बापू' एक उत्कृष्ट गीति-काव्य है। इस काव्य में ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं जहाँ पाठकों के उर की वीणा झंकृत हो उठती है, जहाँ वे रस-मग्न हो जाते हैं। बापू के प्रति पाठकों की श्रद्धा में अन्तर होने से संभवतः रसानुभूति में भी अन्तर हो सकता है किन्तु कवि ने अपने आप को इतने सच्चे रूप में उपस्थिति किया है कि उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। प्रभु का सच्चा रूप क्या है, यह तो प्रभु ही जाने, भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही देखता है। इस काव्य में बापू के दिव्य और अलौकिक गुणों का ही आख्यान है जिनका उपयोग मानवता की रक्षा के लिए हुआ है।

"हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा यों तो बहुत पुरानी है। विद्यापति, सूर और मीराँ के भाव-प्रवण गीत हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगे; किन्तु हिन्दी-साहित्य पर पाश्चात्य और बँगला-साहित्य का जो प्रभाव पड़ा उससे लिरिक (Lyric) की शैली पर गीत लिखे जाने लगे। अंग्रेजी रसाचार्यों की दृष्टि से गीति-काव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति-काव्य के रूप में फूट निकलता है।" 'बापू' के गीत लय पर चलते हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्ण और राम-जैसे लोकनायकों को लेकर सूर और तुलसी-जैसे भावुक भक्तों ने कथा का आश्रय लेकर भी श्रेष्ठ गीति-काव्य की उद्भावना की है; किन्तु 'बापू' जैसे मुक्तक काव्य हिन्दी-साहित्य में दूसरे नहीं हैं। गांधी को अपने काव्य का आलम्बन बनाकर कवि ने अपने भावोच्छ्वासों को शुद्ध सच्चे रूप में पाठकों के सम्मुख रखा है। बीस उच्छ्वासों में बापू का गुण गान करके २१ वें उच्छ्वास में कवि संतोष की साँस लेता है। किन्तु गिने-गिनाये २१ साँस लेकर बापू को समाप्त थोड़े ही किया जा सकता है। 'कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना' कहकर सियारामशरण का काव्य-पुरुष आश्वस्त होता है और अपनी इसी कृति से उसे सर्वाधिक संतोष है, जैसा कवि के निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त होता है:

"अपनी किस रचना को विशेष महत्त्व देता हूँ, यह मुझी से पूछते हैं? जब जिस चीज़ को लिखता हूँ तब वही मुझे बहुत अच्छी जान पड़ती है। बाद में अच्छी तरह याद भी नहीं रहता कि उसमें कैसी और क्या अच्छाई थी। शायद अभी तक मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति लिख ही नहीं सका हूँ। फिर भी कविता में सब से अधिक आत्म-तुष्टि मुझे 'बापू' से हुई है।"

एक-एक उच्छ्वास एक-एक भाव को पिरोये हुए है। 'बापू' रूपी विराट तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई में जाकर चाहे कवि की गगरी मुक्ताफल न ला सकी हो, किन्तु काव्य-रसिक के लिए यह कृति मंजु मुक्ताहार के रूप में सुशोभित है। 'बापू' के प्रत्येक उच्छ्वास का यदि विश्लेषण किया जाय तो उससे भाव की एक-सूत्रता सहज ही सिद्ध की जा सकती है। पहले उच्छ्वास में यदि भाव-प्रवण जनता का समुज्ज्वल चित्र है तो दूसरे उच्छ्वास में प्रतीक्षोत्सुक शताब्दियों का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया गया है। कवि के समस्त उच्छ्वासों का आलम्बन चूँकि एक ही व्यक्ति है, इसलिए सम्पूर्ण काव्य में ही एक सुगठित एकता है जो सब उच्छ्वासों को अन्वित किये हुए हैं। प्रत्येक उच्छ्वास में एक ही भावना अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

'बापू' के गीतों में शब्दों का अपव्यय नहीं है; कवि की प्रौढ़ कृति होने के कारण वैसे भी थोड़े में बहुत कह दिया गया है। किसी गीत में अनावश्यक विस्तार नहीं है। आकार की दृष्टि से १५ वाँ गीत (जिसमें सत्याग्रही के आत्म-बलिदान का गौरव-गान किया गया है) तथा १६ वाँ गीत (जिसमें भारत-माता की विश्व-माता के रूप में कल्पना की गई है) अपेक्षाकृत बड़े हैं, किन्तु ये गीत और भी अधिक मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। १५ वें गीत में जहाँ कवि की हार्दिकता फूट पड़ती है :

'कवि रे, अरे, क्यों आज तेरे नेत्र गीले ये,
तेरे स्वर-तार सभी ढीले ये ?

वहाँ वास्तव में इस कविता का गीति-तार छिन्न-भिन्न होकर ढीला नहीं पड़ता। जिस वेदना-व्यथा से कवि व्यथित है, उस वेदना की कसक राग को और भी संगीतमय बना देती है।

यह तो सच है कि गीति-काव्य में कवि के भाव-प्रवण हृदय का चित्रण रहता है, किन्तु जिन गीतों में कोरी भावुकता रहती है वे चिरकाल तक नहीं जीते, जिनमें हृदय-तत्त्व के साथ बौद्धिक और दार्शनिक तत्त्व मिला होता है, उन्हीं गीतों की छाप लोक-मत के अन्तर्पट पर चिर-अङ्कित रहती है। 'बापू' के कवि की श्रद्धा कोरे भावुक कवि की श्रद्धा नहीं, वह दार्शनिक कवि की श्रद्धा है। इस काव्य में दार्शनिक तत्त्वों का कई स्थानों पर चित्रण हुआ है।

'अन्त ! अरे कौन कहाँ-कहाँ कैसा अन्त ?
श्रीगणेश यह है नवीन के सृजन का,
आद्यक्षर नव्य भव्य जीवन का;
नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का;
हिंसा के उपद्रव से सम्भव विनाश नहीं नर का,
अमृत पिये है वह, आत्मज अमर का।"

दार्शनिक भाव

१८ वें गीत में कवि का देश-प्रेम बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है। किन्तु यह देश-प्रेम संकुचित नहीं है, यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करने के लिए आकुल है। गाँधी जी महानता के प्रतीक हैं और गाँधीवाद इस महानता का पोषण करने-वाला संगठन; भारत का यह सौभाग्य है कि उसे हिमालय-सा महान् रक्षक, गंगा सी महती माता (देश, अरे मेरे देश, तेरी उच्चता में दृढ़ है नगेश, मन

की पवित्रता में गंगा की लहर है) और वस्तु जगत् से बहिष्कृत सत्य को पाने के लिए काव्य निर्माण करनेवाले कवि मिले। महानताओं के इस क्रम का चरम विकास हुआ है गाँधी जी में—वस्तु जगत् से बहिष्कृत सत्य जैसे फिर धरती पर उतर आया है और यह सौभाग्य भारत को प्राप्त है :

'तेरे धरा धाम-मध्य निर्मलिन
आज का नवीन दिन
लाया है प्रफुल्लित प्रकाश गिरा।'

इस मुक्तक काव्य को पढ़ते समय कवि की काव्य-प्रतिभा का आतंक पाठक पर छा जाता है और वह ज्यों-ज्यों इसके अर्थ को हृदयंगम करता जाता है त्यों-त्यो उसके अन्तःकरण में आनन्द की लहर-सी उठती है; एक प्रकाश-किरण का सा उसके हृदय को स्पर्श मिलता है।

'बापू' की शब्द-योजना सरल नहीं है, सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य भी नहीं। स्वयं बापू की भी इसे समझने के लिए शायद कोश की शरण लेनी पड़े। भाषा क्लिष्ट होते हुए भी उसमें अस्पष्टता नहीं है। किन्तु नारियल में जिस तरह ऊपर जटा, फिर कड़ा कोश और नीचे-ही-नीचे गिरी मिलती है, उसी तरह बापू-तत्त्व को समझने के लिए गहराई में जाना होगा।

कवि के हृदय को गाँधी-दर्शन से प्रबल प्रेरणा मिलती है। मानवता के इस कवि को 'बापू' में मानवता की चरम अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ती है। इसलिए वह अतिशयोक्ति का आश्रय लेकर भी अपने उच्छ्वासों को गीतों का रूप देता है। (Ode) के ढंग की संबोधन-पद्धति और विषय की गरिमा प्रायः सर्वत्र देखने को मिलेगी।

जन्म-जात उच्च स्वर्ग कुल के,
मर्त्य-कुलशाखा में हुए हो गोद सप्रमोद।

❀ ❀ ❀

आत्ममणि का-सा पारदर्शी पात्र,
दृष्टि-हेतु गात्र उपलक्ष मात्र,
भीतर को ज्योति से छलकता;

बापू का चरित्र स्वयं ही एक काव्य है। एक विदग्ध कवि के लिए उसमें से भाव-राशि का चयन करना सहज संभाव्य है। प्रथम विन्दु में प्रतीक्षोत्सुक जनता की भावना का सुन्दर चित्रण है :

गूँज उठा जै-जैकार
फिर-फिर दूर तक आरपार······

दूसरे बिन्दु में अद्भुत रस छलक रहा है। शताब्दियाँ एक संग स्थित हैं— "नूतन शताब्द-शिशु-हेतु वे सभी अशान्त।" इतने युगों के बाद नूतन शताब्द शिशु ने जन्म ग्रहण किया है। ठीक भी है, बापू-जैसा नर-रत्न शताब्दियों बाद इस धरा पर अवतीर्ण होता है।

तीसरा बिन्दु और भी अद्भुत है। आगे की शताब्दियाँ एक गवाक्ष खोल कर भविष्य के निकेतन में से झाँक-झाँक कर देख रही है और कान लगाकर सुन रही हैं। बापू के उदात्त स्वर भविष्य की शताब्दियों को भी सुनाई पड़ रहा है। वे आश्चर्य से हैरान हैं कि यह कैसा अद्भुत अलौकिक स्वर है! इतने दूर से आ रहा है और फिर भी इतना पास-पास सा लगता है! बापू की दृष्टि में कितनी दूरदर्शिता है! उसकी सत्य-अहिंसा का गीत देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर सर्वव्यापी हो रहा है।

यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं,
दूरी के अनन्त सिन्धु जल में

'बापू' विभु का वरदान है। यह बिना प्रयास हमें प्राप्त है। जो हमारे सामने सूर्य की रोशनी की तरह प्रत्यक्ष है, उसकी शक्ति का अनुमान हम नहीं लगा सकते; 'होता नहीं रंच परिमाप मान; वह है दिवा-विभास हम को।' 'यह बात सच है कि मनुष्य जब तक हमारे पास से दूर नहीं जाता, तब तक उसके मूल्य को सम्पूर्ण भाव से हम उपलब्ध भी नहीं कर पाते। सूर्य-चन्द्र का आकार गोल है—यह बात दूर होने से ही हम समझ पाते हैं। पृथ्वी भी तो गोल है वैसी ही गोल है, किन्तु निकट होने के कारण हम उसकी बन्धुरता ही देख पाते हैं, उसके वर्तुलाकार को समझ नहीं पाते। इसी तरह मनुष्य जब तक हमारे बीच जीवित रहता है, तब तक हम उसके जीवन की समग्रता को ठीक पकड़ नहीं पाते।'

भयंकर-से-भयंकर परिस्थितियों में भी बापू अचल हैं, वे पर्वतराज हिमालय की तरह अडिग हैं। कुछ रौद्र चित्र देखिये:

झंझावत आते हैं प्रचण्ड रोष गति से,
मुक्त असंयति से,
उच्चशीर्ष कितने महीरुहों को जड़ से पकड़ के,
ऊपर उछाल कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की।

खसखस पड़ते समुन्नत महीध्र शृङ्ग,
अचला के अङ्क में लिपटते;
करके प्रवाह भङ्ग नित्यमार्ग में से नित्य नीर नद हटते
उच्च हर्म्य हेम धाम छिपते उजाड़ में नगर-ग्राम;
चाहते अशान्त-उर विस्तृत सुनीरनिधि
कौन विधि ओट लें सपाट मरुस्थल की।

न जाने कौन से अतल की शान्ति इस मनस्वी को प्राप्त है। ऊपर अप्रस्तुत भूमिचाल के वर्णन द्वारा देश की राजनैतिक हलचल की ओर संकेत किया गया है। 'कम्पन विभीति तुम्हें एक भी न झलकी।'

बापू को 'ईंधन-रहित शुद्ध अग्नि-ज्वाल कहा गया है। निम्नलिखित पद्य में शृंगार की झलक लिये हुये हास्य का पुट भी है:

नित्य के अनंग की अरुणिमा,
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा!
उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति-भरी प्रीता से
वय की दुरन्त झकझोर-झोर,
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर?

वृद्ध पुरुष को युवती स्त्रियाँ छोड़ देती हैं। 'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय?' किन्तु नित्य के अनंग की अरुणिमा से बापू का परिणय हुआ है और इस वृद्धावस्था में भी बापू के अंचल को पकड़े हुए है।

बापू ने अपने व्यष्टि को समष्टि में लीन कर दिया है। वह दिव्य है और मर्त्य कुल शाखा में खुशी-खुशी गोद आया है। देही होते हुए भी वह विदेह है, गेही होते हुए भी वह अगेह है। धन्य है, वह सीपी जिसने बापू-जैसा मोती पैदा किया:

ये नारियाँ हैं सीपियाँ जिनका मोल न तोल
ना जाने किस कोख में छिपा रत्न अनमोल।
'भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूंद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुम में हुई है धन्य धन्य धन्य!

न जाने कौन से दुर्लभ सुयोग से बापू-जैसा धरा का लाल पैदा हुआ है !

'बापू' के चित्र का बैक ग्राउण्ड लाल-काला है; उसके पीछे दृश्य है कारागार का, हिंसा-क्षेत्र का। उस रौद्र और वीभत्स को प्रकाशित करती हुई बापू की सात्विक शान्त मूर्ति अवतरित होती है। चित्र सजीव हो उठता है। यहाँ कवि ने बाह्य का वर्णन करके अन्तर अथवा उसके प्रभाव का अंकन किया है।' इस विन्दु में में कारागार का मर्मस्पर्शी वर्णन है, जो भावों को उद्वेलित करता है। 'भय का अवाक् रोर घोर घनीभूत हुआ उनमें जीड़ित है।' सब ओर निस्तब्धता है, आतंक और भय के कारण रोर अवाक् हो गया है। यह कारागार कोई तृष्णातुर अंध-कूप है जो दीन-हीन मानव के सत्य शील को लील लेगा। किन्तु

'भीति का कठोरातङ्क टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में।'

देश में राजनैतिक चेतना जाग्रत कर निर्भयता का मंत्र फूँक देना बापू की सब से बड़ी देन है। 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' बापू की कृपा से कारागार आज देवग्रह हो गया है।

९ वें विन्दु में मानव की पाशविकता का चित्रण है। एक राष्ट्र किस तरह दूसरे राष्ट्र को पददलित कर साम्राज्यवाद की करालमुखी तृष्णा का शिकार हो रहा है, इसका भावपूर्ण काव्यमय वर्णन है। यह वर्णन है या कितना सामयिक :

जाती है समुद्र ग्रास करने को स्थल से,
और फिर छिप के अतल से
बढ़ती है उपर अनन्त शून्य पथ में,
आरूढ़ा महा विनाश-रथ में,
बरसा रही है प्रज्वलन्ताङ्गार;
कैसा घोर हाहाकार !

बापू में सब काल और देश की विभूतियों का समन्वय है। उसे हरिश्चन्द्र की अटलता, श्री प्रल्हाद की भक्तिसमुज्ज्वलता, कृष्ण का निष्काम ज्ञान-कर्म-योग, भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता, बुद्ध का परमार्थ-भाग, ईसा का नरानुराग, महावीर का हिंसा-त्याग, मुहम्मद की दृढ़ता, नरसी की पराई पीर, रामचरितमानस की धवलता, टाल्सटाय का प्रेम-प्रतिरोध विरासत में मिला है। महात्मा गाँधी की सुप्रसिद्ध जीवनी में प्रकारांतर से यही बात रोम्याँ रोलाँ कह रहे हैं :

His principle of Ahimsa (non-violence) has been

inscribed in the spirit of India for more than two thousand years. Mahavira, Buddha and the cult of Vishnu have made it the substance of millions of souls. Gandhi has merely transfused heroic blood in to it. He called upon the great shadows, the forces of the past, plunged in mortal lethargy, and at the sound of his voice they came to life. In him they found themselves. He incarnates the spirit of his people. Blessed the man who is a people, his people entombed, and then resusciated in him.

(Romain Rolland)

धरित्री में जागृति का मांगलिक सुप्रभात हुआ है। बापू का सत्य और अहिंसा के रूप में जो उदार दान है वह फैलकर समस्त भुवन का हो जाय, यही कवि की अन्यतम इच्छा हैं।

भारतमाता की विश्वमाता के रूप में कल्पना की गयी है। विश्व भर का दुःख, शोक, ताप इसके भीतर उमड़ा-सा आता है। हिंसा की अग्नि में जलते हुए विश्वमाता के लाल–मानव–को बचाने के लिए एक लाल पैदा हुआ है जो गति में दुरन्त वेग भरके हिंसानल के बीचोंबीच अपने सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है, और सब की यही कामना है :

अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम।

'बापू' का अन्तिम गीत एक सुन्दर भाव-चित्र है; संगीत की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। छन्द में परिवर्तन है, शैली की विभिन्नता है, कवि का इसमें आत्माभिव्यंजन है।

रौद्र—भयानकः—निम्नलिखित दृश्य भी दर्शनीय है :

कैसी कुपिताएँ ये अनल शिखाएँ, क्षुधिताएँ ये
मिट्टी ईंट-चूना तक चाटने को टूट पड़ीं
सन्न निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं;
भय से विषण्ण मन, दाह-दग्ध तन हैं।"

शान्त-रस के तो अनेक चित्र अनायास ही मिल जायँगे।

भाषा और शैली—इस काव्य की ओजस्विनी भाषा का प्रवाह कहीं भी मन्द नहीं पड़ा है। वह उत्साह और स्फूर्ति, जिससे प्रेरित होकर कवि-रचना में प्रवृत्त हुआ था, अन्त तक अक्षुण्ण है। 'बापू' में शायद ही कोई शिथिल पंक्ति मिल सके। 'बापू' कवि की प्रौढ़ता की वाणी है। भाषा उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण, सारगर्भित एवं लाक्षणिकता लिये हुए है। कहीं-कहीं भाव-गम्भीर्य शब्दों की परिधि को पार करके बहुत आगे बढ़ गया है। जैसे छोटे से क्षितिज, बाहर-विहीन, अवाक् रोर आदि। 'बापू' की कुछ पंक्तियाँ तो इतनी सुन्दर हैं कि शायद कहावतों के रूप में चल पड़ें। उदाहरण —'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो।' मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु।' 'संजीवनी विद्या है प्रकाशित अभय में।' भाषा सर्वत्र भावानुगामिनी रही है। उसमें लय का बल और गति का वेग है। उसमें रौद्र और वीभत्स की कठोरता तो है ही, उपयुक्त स्थल पर शान्त रस की स्वच्छता और प्रसन्नता भी है। 'मुक्ति बीज फूट पड़ा बाहर है, लाली लिये ले रहा लहर है।' कवि ने लय के लिए पुनरावृत्ति और तुकांत शब्दों की सहायता ली है। यथा—

फिर फिर दूर तक आर पार……'
यह स्वर डूबा नहीं, डूबा नहीं……'

कवि को अपने शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भण्डार की शरण लेनी पड़ी है। संभवतः संस्कृत शब्दों की सहायता के बिना वह अपने हृद्गत भावों की सफल व्यंजना न कर सकता। उसने देव-वाणी का अधिकतर आश्रय लेकर देवोपम 'शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल' बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस काव्य में तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। लम्बे-लम्बे संस्कृत समासों का भी अभाव नहीं है। हेम-हीर-मणि-मुक्ताहार रजनि-उपान्त-निभ, अतन्द्र-प्रेम-प्रियता, ज्ञान-गरिमा-विशिष्ट, नूतन-शताब्द-शिशु-हेतु, प्रेम-फुल्ल-पुष्प-मालाएँ, स्वर्ण-लाभ-योग आदि। किन्तु शुद्ध संस्कृत पदावली के साथ-साथ 'उछाह, लूट-पाट, खर्व, खस-खस गिरते, हाँप-से उखड़े' आदि साधारण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वैर मोल लेकर लड़ेगा, 'बाट जोहती थीं, घर के तुम्हारे वे चरण-चिह्न' आदि मुहावरे भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। 'चलाचल शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर है। कहीं-कहीं अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग से शब्दों द्वारा ही अर्थ ध्वनित हो जाता है—

हो उठी पयोद घटा गहरी,
एक साथ बिज्जु-छटा छहरी,

वायु बही सर-सर, काँप उठे वन्य वृक्ष थर थर
सहसा अकाल वृष्टि घन-घन घहरी।

× × ×

'धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग !
धाम वह धाँय-धाँय,
धूप का गुँगाटा भरे भाँय-भाँव।'

× × ×

कल कल्लोलित धारा पाकर तट पर ही यह तरी-तरी।

पृथुल, अजस्र, ध्वांत, हर्म्य उत्स, आवर्जन, अतंद्र, तमिस्र, असंवित् आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग होने से संस्कृतज्ञ पाठक ही 'बापू' का सम्यक् रसास्वादन कर सकेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय स्कृत-बहुला भाषाओं के पाठकों के लिए 'बापू' अवश्य ही सहजगम्य हो सकेगा। इस काव्य की भाषा संस्कृत-प्रधान व्याकरण-सम्मत खड़ी बोली है। कहीं-कहीं 'उछाह' आदि शब्दों का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि के लिए किया गया है। कुपिताएँ, अनल-शिखाएँ क्षुधिताँएँ में विशेषण शब्दों का भी बहुवचनांत रूप प्रयुक्त हुआ है, जो प्रसंगानुकूल फ़िट बैठने से अच्छा लगता है। 'आई अहा ! मूर्ति वह हँसती !' में मूर्ति शब्द स्वयं एक मूर्ति लाकर आँखों के सामने खड़ी कर देता है। भाषा पर कवि का आधिपत्य है। 'बापू' में गिरा अर्थ से और अर्थ गिरा से सादर समलंकृत है। 'खसखस पड़ते समुन्नत महीध्र-शृंग' आदि में ध्वनिशील शब्दों के प्रयोग के कारण शब्द-योजना बहुत समीचीन है। मालूम होता है जैसे पहाड़ खस खस गिर रहे हैं। 'जड़ से पकड़ कर धूलि खिला जाते हैं निम्न भूमितल की' पढ़ने पर लगता है, जैसे किसी के सिर के बालों को पकड़ कर उसे जमीन पर दे मारा हो। 'बापू' में अर्थ-गौरव की प्रधानता है। थोड़े में कवि बहुत कह गया है। यह बिना भाषा पर प्रभुत्व हुए संभव नहीं। इतने थोड़े शब्दों में अर्थ-गुम्फन शायद कवि की अन्य किसी भी कृति में न मिले। शैली में विरोध-पद्धति प्राय: सर्वत्र देखने को मिलेगी। 'बापू' के प्रादुर्भाव-काल में बहुत-सी विषम परिस्थितियाँ दिखलाकर उनसे लोहा लेने के लिए इस कृशकाय तपस्वी की असीम शक्तियों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उसमें एक प्रकार की ऐसी अभिव्यक्ति की तरलता आ गयी है जिसमें स्नान करने से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है।

विरोध-पद्धति

'तुम में पुरातन है नूतन में, नूतन चिरन्तन ।
लघु अवतीर्ण है महत्तम में,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में ।'
'मित है अपरिमाण'
'भय का अवाक् शोर'
'अन्त लिए
अथ में,' 'मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्यकेतु'
'निद्रा के विराग में जाग्रत किये थी अनुराग की गहनता ।'
'नश्वरता जिसमें हुई है अविनश्वरता
मृत्यु में हिली-मिली अमरता ।'

अंग्रेज़ी अलंकार (Oxymoron) और विरोधाभास के राशि राशि उदाहरण 'बापू' में मिलेंगे । और सच तो यह है कि बापू स्वयं एक विरोधाभास है।

प्रसंग-गर्भत्व—का प्रयोग शैली को चमत्कृत कर देता है; किन्तु प्रसिद्ध का प्रयोग ही कवि-परिश्रम को सार्थक बनाता है ! 'आज के अपत्य तुम कल के जनक हो' 'Child is the father of man' की याद दिलाता है ।

अचल प्रतिष्ठ हे, तुम्हारे पुण्य सागर में,
ज्ञान-गुणागर में,
शान्ति के समस्त प्रभ्रमित स्रोत,
आकर हैं पूर्यमाण, पूर्णकाम ओत-प्रोत ।

इन तंक्तियों को पढ़कर गीता का यह श्लोक अनायास स्मरण हो आता है :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।

श्रेष्ठरथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के ।
(आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु) [कठोपषिद्]

सुप्त सर्वभूत निशा हो रही है जाग्रति की पूर्व दिशा ।
'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' [गीता]

'बापू में अभिव्यंजना-कौशल सर्वत्र दिखलाई पड़ता है । इस काव्य में अभिव्यंजना के अनुभूतिमय होने से इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है । मनुष्य के हृदय में जैसे भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार उसके मुख की आकृति भी बदल

जाती है। इसलिए शैली के सर्वत्र भावानुकूल होने से ही उसमें स्वाभाविकता आ सकती है।

व्यक्ति के स्थान पर गुण का प्रयोग—

'कायरता करने लगी पुकार—
लौट अरे लौट, वहां नाश का महा प्रसार!

मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत—

झंझावात आते हैं प्रचण्ड रोष गति से
मुक्त असंयति-से'

यहाँ झंझावात को 'मुक्त असंयति-से' कहा गया है।

अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत

जागी धृति सुस्मृति समान किसी विस्मृति में।

विशेषण विपर्यय

माता का व्यथित रोर।

चपलातिशयोक्ति

भीति का कठोरातङ्क टूट गया स्पर्श से तुम्हारे एक पल में

श्लेष

विरज समीर की लहर-सा
सारी रात निद्रा के विराग में जाग्रत किये थी अनुरागकी गहनता,
[विरोध और श्लेष का चमत्कार]

रूपक

मुक्ति-बीज क्रूर भक्ति-भूमि भेद,
फूट पड़ा बाहर है।
लाली लिये ले रहा लहर है' [वृत्यनुप्रास]

सुन्दर-उपमा

'दुर्गम दुरूह में से शंका-समाधान सम'

अभिव्यंजना-कौशल के सब प्रकार हमारे यहाँ लाक्षणिक और व्यंजनात्मक प्रयोगों में अंतर्भूत हो जाते हैं। अभिव्यक्ति की तरलता की दृष्टि से 'बापू'

हिन्द-साहित्य का एक उत्कृष्ट काव्य है। अभिव्यक्ति के सम्यक् विवेजन के लिए एक स्वतंत्र लेख ही अपेक्षित है।

आज जब हिन्दुस्तानी के आन्दोलन को लेकर इतने प्रवाद चल पड़े हैं और स्वयं बापू समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहते हैं, नहीं कहा जा सकता 'बापू' की भाषा पर स्वयं बापू क्या कहेंगे ?

अन्त में 'बापू' के सम्बन्ध में हिन्दी-संसार के मर्मज्ञ आलोचक प्रो० रामकृष्ण शुक्ल के सारगर्भित शब्दों को उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक न होगा :

'बापू' प्रधानतः एक वीरपूजात्मक काव्य है, और इस दृष्टि से आधुनिक समय के मुक्तक छन्दों में चारण काव्य (Ballad Poetry) के ढंग का है, जिसमें कुछ गीति-तत्व-सा-भी पाया जा सकता है। इसकी प्रत्येक कविता अलग-अलग मुक्तक है परन्तु क्योंकि समस्त ग्रन्थ एक कालीन रचना है, इसलिए इस के मुक्तकों में ध्येय की एक सूत्रता या समरसता भी मौजूद है, तथापि इसके कारण यह प्रबन्ध कोटि में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि इसमें कथा या कथांगों का कोई अनुसन्धान नहीं है। एककालीनता और तद्धेतुकी समरसता के प्रतिफल में हमें 'बापू' काव्य में, नायक की प्रत्येक विभिन्न परिस्थिति में, कवि की एकसी मनो-वृत्ति बराबर काम करती हुई दिखाई देती है और प्रत्येक स्थिति में नायक का भी जैसे एक ही रूप दिखाई देता है। नायक का यह रूप त्याग-वीर और अहिंसा-युद्ध-वीर का ऊर्जस्वल रूप है। इस रूप के प्रभाव में अखिल पशुताओं, दानव-ताओं, भीतिओं आदि के दल को विजेता के सामने हम पलायन करते देखते हैं तथा अत्याचारी से पदाक्रान्त प्रजा को शान्ति, आशा और पुनर्जीवन का स्वागत करते देखते हैं। इस व्यापार में भी जहाँ प्रजाओं और शताब्दियों या कारावासों आदि का चित्र है वहाँ मानों उनका प्रस्तुत काव्य-नायक ही है जो प्रत्येक वर्णन में पर्दे के पीछे खड़ा-सा झलकने लगता है।

चारण-काव्य (Ballad poetry) का सन्देश स्वाभावतः उद्रात्त रहता है। 'बापू' भी एक उदात्त रचना है। परन्तु नायक की अपनी विशेषताएँ हैं—अहिंसा-संग्राम और नायक की अकिंचनता, निरस्त्रता के कारण चारण काव्य का जो एक अन्य परिचित लक्षण (Chivalry) वीरता और वीरतापूर्ण (Chivalrous) शृंगार प्रायः देखने में आया करता है, उससे 'बापू' सर्वथा मुक्त है।

'बापू (नायक) का चरित्र और व्यक्तित्व मानों युग की पुकार का ही संलक्ष्य स्वरूप है। बापू में और युग में ऐकात्म्य है। उसके नाते बापू भारतीय आदर्श

के लिहाज़ से, युगपति कहे जायँ तो क्या हर्ज है ? अपने-अपने समय के युग-पतियों—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि सबका कवि ने 'बापू' में समाधान और समाहार कर लिया है; पर फिर भी—या शायद इसीलिए—बापू बापू ही हैं।

"स्वाभाविकतया ही वीर-काव्य में हम 'स्थायी उत्साह' या वीर रस की ही परिस्थितियों की आशा करते हैं। 'बापू' स्थायी भाव उत्साह से ओतप्रोत है। परन्तु इसके उत्साह में एक नवलता है, जो (Ballad poetry) चारण-काव्य या कल्पित काव्य (Romance) के अद्भुत-तत्व का स्थान ग्रहण करती है। एक सर्वस्वत्यागी, अर्द्धनग्न अकिञ्चन, जिसकी मूर्ति से 'शम' की प्रेरणा ही उसका कल्पनीय सत्व जान पड़ती है, जब शान्ति का हाथ उठाता हुआ हमें बढ़ चलने के उत्साह से उद्दीप्त करता है तो हम जैसे बड़े कौतुकचकित-से रह जाते हैं। साहित्य-पद्धति में 'शम' और 'उत्साह' विरोधी हैं। बापू में इन दोनों का एकत्र रुचिकर समाधान ही जैसे 'अद्भुत' की विश्रब्ध भूमि बन जाता है। इसके अतिरिक्त 'रति' और 'उत्साह' दो ऐसे भाव हैं, जिनकी परिचर्या में लगभग अन्य समस्त भाव सञ्चरण (सञ्चारियों के रूप में) कर सकते हैं। 'रति' और 'उत्साह' का तो आपस में भी जैसे बड़ा सन्निकट सम्बन्ध हो। एक-दूसरे का हमेशा पोषक होता है। परन्तु 'बापू' में मानों उत्साह ही एकमात्र स्वयंसिद्ध सत्ता है, जिसे सञ्चारियों की कोई ज़रूरत नहीं। यदि कोई सञ्चार दिखाई भी देता है तो युग की वेदना-आशामयी विकलता और उत्कण्ठा के रूप में—नायक की किसी सञ्चारिणी भावना के रूप में नहीं। नायक के व्यक्तित्व से जो शान्ति का सन्देश-सा मिलता है वह भी उस के 'उत्साह' का सञ्चारी न होकर मानों उसका एक गौण उद्दीपन ही-सा दृष्टिगोचर होता है।

"'बापू' की कविता में माधुर्य या प्रसाद की अपेक्षा ओज अधिक है, जो वीर काव्य में होना स्वाभाविक है। इस ओज का साहित्यिक रूप उसकी शैली है, जिसके उपकरणों में उसकी अत्यन्त तत्सम पदावली तथा संयुक्ताक्षर-प्रबल स्फोटमयी वाणी है। इसके अतिरिक्त, सम्भव है, ग्रन्थ की मुक्तक छन्द-रचना भी ओज-विधान में सहायक हो सकी हो।

"'बापू' की सारी रचना अलंकारमयी है, जिसमें सांग-रूपकों को विशेष स्थान दिया गया है।"

उपसंहार—"इनकी प्रसिद्ध रचना 'बापू' काव्य-पद्धति में अन्तर्वृत्ति-निरूपक मुक्तक प्रधान ठहरती है।......इन मुक्तकों को कुछ-कुछ सानेट के समानान्तर

मान सकते हैं; क्योंकि सानेट में भी एक ही विषय रहता है और वह कई छन्दों में वर्णित होता है।

"शास्त्र-प्रतिपादित किसी छन्द को ग्रहण न करके इसमें सारी रचना केवल लय के आधार पर की गयी है। इसके चरणों में जो कुछ चमत्कार है वह लय के उतार-चढ़ाव में ही है। अंत्यनुप्रास में भी किसी विशेष नियम का पालन नहीं किया गया है। कहीं अंत्यनुप्रास पास-पास मिलता है और कहीं-कहीं तो अंत्यानुप्रास का पूरा-पूरा अभाव मिलता है। संभवतः अँग्रेज़ी सानेट में मिलनेवाले अन्त्यनुप्रास के अव्यवस्थित नियम के ढंग पर 'बापू' में भी किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया है। १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल में अमेरिका में एक नवीन ढंग की अतुकान्त छन्द-विहीन कविता का आरम्भ हुआ। बँगला द्वारा हिन्दी-जगत् में भी उसके अनुकरण पर इस नवीन कविता-प्रणाली का श्रीगणेश किया गया।"

'बापू' के अनेक गीतों में (Ode) जैसी शैली मिलेगी; 'देश अरे मेरे देश' जैसे देश-प्रेम-मूलक गीत भी मिल जायँगे, किन्तु समस्त रचना को वस्तुतः साहित्यिक वीर-काव्य (Literary Ballad) का नाम देना ही अधिक उपयुक्त होगा। इस काव्य का प्रारम्भ भी गीति-काव्य की तरह न होकर वीर-काव्य की तरह होता है और सच कहा जाय तो 'बापू' विधिविधान (Technique) की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय काव्य है। स्वयं बापू का वर्गीकरण जिस प्रकार टेढ़ी खीर है, उसी प्रकार यह काव्य भी सहज ही किसी श्रेणी में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। 'बापू-विचार' के विद्वान् लेखक का ध्यान भी इस काव्य के वीरपूजात्मक रूप की ओर नहीं जा पाया है। 'बापू' वास्तव में मानवता का काव्य है। इस काव्य में कहीं भी गाँधीजी का नामोल्लेख नहीं हुआ है। सम्भवतः लेखक ने जान-बूझकर ऐसा किया है। गांधी आज एक व्यक्ति नहीं, वह मानवता का प्रतीक है, एक मूर्तिमन्त आदर्श है। इसलिए इस काव्य को क्या हम मानवता का स्तवन (Ode to Humanity) नहीं कह सकते ?



उन्मुक्त

[डा० नगेन्द्र]

'उन्मुक्त' का विश्लेषण करने से पूर्व उसके रचयिता के व्यक्तित्व का थोड़ा विश्लेषण करना संगत होगा। कवि सियारामशरण का व्यक्तित्व पीड़ा से बना हुआ है। उनका श्वास-रोग और एकांकी जीवन ये दोनों आज एक सुदीर्घकाल से उनके जीवन सहचर हैं। स्वभावतः उनमें करुण-चिंतन का प्राधान्य है। हिन्दी-जगत् से उपेक्षा पाकर यह पीड़ा अवश्य ही उनका कम्प्लैक्स बन जाती, यदि कवि के अतर्क्य आस्तिक संस्कारों का प्रतीप प्रभाव उस पर न होता। यही आस्तिकता उसे पीड़ा को आनन्द का माध्यम मानने के लिए बाध्य करती है और वह दुःख में सुख, पराजय में विजय, और निर्बलता में बल प्राप्त करता है। ऐसी मनःस्थिति के कवि के लिए गांधीवाद का आकर्षण अनिवार्य है। गांधीवाद पीड़ित एवं पराजित देश की जितनी शुद्ध और स्वस्थ अभिव्यक्ति है, कवि सियारामशरण का काव्य गांधीवाद का उतना ही सच्चा प्रतीक है।

बुन्देलखण्ड की शस्य श्यामला भूमि, रुग्ण कवि का एकान्त-वास, युद्ध के भीषण समाचारों को मोटे-मोटे अक्षरों में देनेवाले दैनिक पत्र। कवि श्वास-रोग से पीड़ित है। पत्रों में हत्याकाण्ड के समाचार पढ़कर उसकी व्यथा द्विगुण हो जाती है। जी घुटने लगता है। मन के बोझ को हलका करने के लिए वह बाहर देखता है। वसुन्धरा का अञ्चल उसे शरण देता है और वह कुछ स्वस्थ होकर कविता लिखता है जिसका सुफल होता है 'उन्मुक्त'।

'उन्मुक्त' रूपक है: लौहद्वीप के अधिपति ने समस्त संसार को अधिकृत करने का रक्तमय अनुष्ठान किया है: ताम्र-द्वीप, रौप्य-द्वीप ध्वस्त हो चुके। अब कुसुम-द्वीप पर आक्रमण हुआ है। कुसुम-द्वीपवासी वीरतापूर्वक लड़ते हैं। उनका सेनानी पुष्पदन्त अपनी समस्त शक्ति लगा देता है—यहाँ तक कि भस्मक किरण का भी उपयोग करने को बाध्य हो जाता है। परन्तु भाग्य साथ नहीं

देता। भस्मक किरण से संयुक्त उनका विमान बीच ही में ख़राब होकर शत्रु के हाथ में पड़ जाता है और तुरन्त ही कुसुम-द्वीप भी अधिकृत हो जाता है।

कुसुम-द्वीप के शक्ति-संचालक तीन व्यक्ति हैं। पुष्पदंत, गुणधार और मृदुला। वैसे तो ये तीनों ही अहिंसा में विश्वास रखनेवाले हैं, परन्तु पुष्पदंत और मृदुला आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसा का प्रयोग न्याय्य समझते हैं। इसके विपरीत गुणधर एकान्त अहिंसा का उपासक है। आरम्भ में वह भी देश की विपत्तियों का विचार कर शस्त्र ग्रहण कर लेता है। परन्तु युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त, साथ ही पुष्पदंत को भी भस्मक किरण का अवैध उपयोग करते देख वह एकदम युद्ध से विरक्त हो जाता है। पुष्पदंत उसे मृत्यु-दण्ड देता है, परन्तु दण्ड-विधान पूर्ण होने से पूर्व ही ये तीनों समभोगी के रूप में मिलते हैं। अब पुष्पदंत भी अपनी भूल स्वीकार कर लेता है, और अहिंसक मरण को ही जीवन की मुक्ति मानकर ये तीनों वीर उन्मुक्त हो जाते हैं। अतः उन्मुक्त हिंसा की निष्फल भीषणता प्रदर्शित करता हुआ सत्य और अहिंसा की स्थापना करता है। आधुनिक युद्ध का एक मात्र प्रतिकार अहिंसा है; क्योंकि उसी में सब का हित सुरक्षित है और विजय वही है जिसमें सब का हित हो—'सर्वोदय' हो।

"सब के हित में लाभ करो निज विजय श्री का !" यही 'उन्मुक्त' का संदेश है। पराधीन देश के दार्शनिक और कवि विश्व को और क्या संदेश दे सकते हैं ? हो सकता है कि इसे सुनकर कुछ लोग (और उसमें किसी अंश तक मैं भी शामिल हूँ) उसी प्रकार खिन्न हो उठें जिस प्रकार कतिपय पिछली लड़ाई के दिनों में) अंग्रेज़ गाँधी जी के ऐसे ही संदेश को सुनकर खिन्न हो उठे थे। परन्तु उसके पीछे मानव-करुणा से ओत-प्रोत एक तपोमयी आत्मा की तड़प है, जिसका प्रभाव अनिवार्य है।

इस प्रकार 'उन्मुक्त' की कथा उपलक्ष मात्र है और उसकी समस्त घटनाएँ प्रतीक हैं कवि की उन भावनाओं की जो युद्ध के नृशंस समाचार सुन-सुन कर उसके एकाकी मन में जागृत हुई हैं। आप सहज ही उन्हें कथावस्तु में से पृथक कर देख सकते हैं।

पहला चित्र आधुनिक युद्ध के सूत्रधार का है :

देखा मैंने सभी ओर घनघोर तिमिर है।
उड़ गये ज्योतिष्क-पिण्ड शशि ग्रह तारादल,
नहीं कहीं कुछ, शून्य धरातल, शून्य नभस्थल।

फिर भी, फिर भी बोध हुआ ऐसा कुछ मन में,
कोई कुटिल कराल निखिल के प्रेत विजन में
शवसाधन में लीन; एक बस एक वही है,
और अन्य वह अचल पड़ी आक्रान्त मही है।
किसी लोभ के ज्योतिहीन जन्मान्ध अतल में,
हुआ निखिल खग्रास !

आगे स्वयं अभियान का अवलोकन कर लीजिये:

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से।
उनका क्या मैं कहूँ—घोष दुर्घोष भयंकर;
प्रेतों का-सा अट्टहास; शतशत प्रलयंकर;
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन,
नीरव जिनके निकट,–हुआ ऐसा कटु-गर्जन।
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधनाफल वह नर का,—
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वंस चिताओं में थे जलते।

चौथा चित्र है युद्ध में होनेवाले नारीत्व के अपमान का—

'सुनो हुआ, हेमा का फिर क्या;
सद्योधिक उस मांस-पिण्ड का, उष्ण रुधिर का
लोभी नरपशु उसे जिलाये रहा रात भर
सैन्य शिविर में ! पढ़ो पढ़ सको यदि धीरज धर
तो पढ़लो यह पत्र।'—

कवि की पुण्य भारती उस अत्याचार का वर्णन करने में शर्मा जाती है और वह एक तीखा व्यंग्य कसकर रह जाता है :

धिक् धिक्।
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सांस्कृतिक !
तुम ऐसे हो !'

'उन्मुक्त' का सब से मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग है शुश्रूषालय। यह रुग्ण कवि की आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति है। कवि के समान ही आहत गुणधर

(जो सचमुच उन्हीं का प्रतिरूप है) सुश्रूषालय में पड़ा हुआ पिछले दिन घटना का स्मरण कर रहा है। यह घटना भी युद्ध-सम्बन्धी एक कठोर विचित्रता ही की प्रतीक है। आज से बहुत दिन पूर्व—लगभग १०० वर्ष पूर्व कार्लायल ने इस पर व्यंग्य किया था :

...For example, there dwell and toil in the British Village of Dumdrudge usually some five hundred souls. From these by certain natural enemies of the French there are successively selected say thirty able bodied men...And now to that same spot in the south of Spain are thirty similar French artisans from a French Dumdrudge in like manner wending ; till at length, after infinite effort the two parties come in to actual juxtaposition. Straightway the word 'Fire' is given, and they blow the souls out of one another......Had these men any quarrel ? Busy as the devil is' not the smallest ! They lived far enough apart ; were the entirest strangers. How then ? Simpleton ! their governors had fallen out, and instead of shooting one another had the cunning to make these poor block-heads shoot.

—Carlyle

यही तथ्य कविता की गहराई लेकर इस प्रसंग में व्यक्त हुआ है। एक मरणासन्न शत्रु-सैनिक को किसी अपरिचित भाषा में कराहते देखकर गुणधर को युद्ध की विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसकी मानवात्मा पिघल पड़ती है :

अब यह किसका शत्रु पड़ गया मैं संशय में।
अविकृत मानव-मात्र सभी का सहज सगोत्री
हम सब-सा ही मरण-यज्ञ में एक सहोत्री।

अतः यह भेद-भाव भूलकर सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उस सैनिक के पास जाता है, परन्तु आह रे वंचित मानव ! मरण प्राय यह सैनिक अपनी बचीहुई शक्ति समेटकर गुणधर पर वार कर बैठता है। बस यहीं पर मानवता की चरम विजय है—गुणधर उसपर रोष नहीं दया करता है :

वह सैनिक भी न था और कुछ, यह था मानव;
ऐसा मानव लाभ उठा जिसकी शिशुता का
किसी इतर ने चढ़ा दिया था उस पशुता का
ऊपर का वह खोल। आत्म-विस्मृति ने छाकर
उसका बोध विलोप कर दिया था, मैं उस पर
रोष करूँ या दया ?

जिस प्रकार बरसात में विद्युत अथवा आँसुओं के बीच आँख की ज्वाला जल उठती है, इसी प्रकार इन द्रवित भावनाओं में वीरता भी कहीं-कहीं चमक उठी है और युद्ध का गौरव-पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा :

—याद ऐसा भट आया
छिन्न शीर्ष जो कटे हुए धड़ का मन भाया
देख रहा हो समर-पराक्रम खुले नयन से।
आ उतरा ज्यों वहाँ मरण के वातायन से
लोचन का फल-लाभ।

आगे कुछ ध्वंस के चित्र हैं, जिनमें से एक में अबोध शिशुओं की हत्या का दृश्य है—वहाँ स्वर्गगत बच्चों के द्वारा मानव नृशंसता की आलोचना कराई है। इसके उपरान्त पराजय है—कुसुमद्वीप ने शस्त्र समर्पित कर दिये। अधिकार सौंपते हुए योरोप के अनेक प्राइम मिनिस्टरों की रुद्ध वाणी मानों 'उन्मुक्त' के महामात्य के कण्ठ में फूट पड़ी है—

'प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।
आप में से योई किसी माङ्गलिक वेला में
आकर नवीन बल-बुद्धि से, महत्ता से
आज की पराजय को जय में बदल दें,
मेरी यही कामना है।
भावी उस नेता को
आज का पराजित मैं रुद्ध निज वाणी से

> अर्पित प्रणाम किये जाता हूँ विनय से,
> अच्छा नमस्कार !

परन्तु सचमुच यह पराजय कुसुम-द्वीप की नहीं है। यह हिंसा की पराजय है। पुष्पदन्त भी अपनी भूल स्वीकार करता है :

> अच्छा ही यह हुआ कर सके निज में अनुभव
> है कैसा पाशविक हिंस्र ज्वाला का ताण्डव।

अन्त में इस युद्ध की समस्या का समाधान है :

> हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
> जो सब का है वही हमारा भी है मंगल।
> मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
> हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

बस यहीं कवि की आस्तिकता उसको मुक्त करती है। अन्यथा दैहिक, दैविक और (युद्ध की) आत्मिक—तीनों प्रकार की पीड़ाएँ मिलकर उसे कुछ और ही बना देतीं। इसी के बल पर विनाश में भी मा वसुमती की सृजन-शक्ति को क्रियाशील देखकर उसे परितोष होता है—

> आश्वसित समाश्वसित हूँ,
> तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ।
> देख रहा हूँ जहाँ क्रोध कुत्सित पाशव का
> रूप विकट वीभत्स, जहाँ मूर्छित मानव का
> शतशः खण्डीकरण दलन विदलन कर कर के;
> उसी ठौर पर उसी ठिकाने के थल पर से
> फूट पड़े हैं नये-नये अंकुर वे शोभन।
> जिसे घृणा की गई उसी के लिए नमित है
> धरणी की वह सुमन मञ्जरी मृदुलान्दोलित।
> स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
> इधर उधर सब ओर।

युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन पढ़-सुनकर ऐसी ही भावनाएँ कवि के मन में उठी हैं, जिनको उसने अपूर्व कौशल के साथ अन्वित कर एक कहानी

का रूप दे दिया है। यद्यपि वास्तविक गौरव इन भाव-चित्रों का ही है, फिर भी कथा का संवहन एकदम निर्दोष है, उसके विकास में सहज क्रम, गति में अनुकूल प्रवाह और वृत्त-वर्णन में रोचकता लाने का सफल प्रयत्न है—उदाहरण के लिए मृदुला और जागरिता का अवचेतनात्मक वार्तालाप लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानी का आधार भी उसी के योग्य है। कवि ने इसके निमित्त अखण्ड देश काल को चुना है, जिसका विराट् आकार समस्त दिग्मण्डल को समेटे हुए वर्तमान, भूत और भविष्य के तीन पदों पर स्थित है। सियारामशरण जी अपने ढंग के अकेले टेकनीशियन हैं। उनकी टेकनीक में श्रीविलास चाहे अधिक न हो, परन्तु उसका 'सहजगुण' असंदिग्ध है। आज के जैसे एकान्त कवित्व-शून्य युद्ध को भी उन्होंने न केवल प्राणों की पीड़ा में डुबोकर ही, वरन कवि-कौशल के द्वारा भी काव्यमय बना दिया है। आज अनेक प्रगतिवादी कलाकार प्रत्यक्ष को काव्यमय बनाने की कला 'उन्मुक्त' से सीख सकते हैं। इसी प्रसंग में मैं कुछ उदाहरण कवि की नित्य प्रौढ़तर होती हुई अभिव्यञ्जना-शैली के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

१—रौप्य द्वीप तो है ध्वस्त; नाम अब उसका
और कुछ हो गया है,—जैसे किसी जन की

मृत्यु हो गई हो, वह निम्न किसी योनि में
जाकर दिखाई पड़े, पोंछ कर स्मृति से

अपना अतीत एक साथ।
२—स्वेद-सनी बन गई सलोनी तेरी रोटी।

अन्त में हमें यह देखकर सुख होता है कि सियाराशरण जी की कविता उत्तरोत्तर गम्भीर और प्रौढ़ होती जा रही है। उनकी पिछली कृति 'बापू' एक महान कविता थी—'उन्मुक्त' उससे भी महत्तर है। इस श्रेणी की कविता पिछले दो-एक वर्षों में कष्ट-प्राप्य ही रही है।

कवि सियारामशरण की काव्य-साधना अन्तर्मुखी है। उसमें चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है। वाह्य जीवन का उपभोग कम होने के कारण उसमें जीवन का वह खट्टा-मिट्टा रस नहीं है जो उनके अग्रज मैथिली बाबू के काव्य में है। परन्तु हर एक स्थान पर आपको तपःपूत आत्मा का छना हुआ

विशुद्ध रस मिलेगा, जिसमें चाहे स्वाद बहुत अधिक न हो, परन्तु शान्ति अनिवार्य है। गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक व्यवहार-पक्ष, दूसरा दर्शन-पक्ष। व्यवहार-पक्ष के कवि हैं मैथिलीशरण गुप्त और दर्शन-पक्ष के कवि हैं सियारामशरण। अथवा हम यह कह सकते हैं कि गांधीवाद के दो पक्ष हैं—एक ओज-पक्ष, दूसरा तप-पक्ष। ओज-पक्ष के कवि आज अनेक हैं, जिनमें नवीन अग्रणी हैं, तप-पक्ष का एक अकेला कवि है सियारामशरण गुप्त।

सन् ४१,



नकुल

[डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-ऐच० डी० ।]

सियारामशरण गुप्त अपनी लोक-प्रिय कविता के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं। यह प्रसिद्धि उन्हें 'एक फूल की चाह' जैसी रचनाओं के कारण मिली थी। इन रचनाओं में एक लघु-कथा रहती है। उसमें अत्यन्त संवेदनशीलता का मधुर स्पंदन भी। करुणा का तीव्र मनोवेग कथा की रोचकता में मिलकर काव्य को आकर्षक बनाता है। सामाजिक स्थूल ऊँचा आदर्श उसे महत्त्वशाली बनाता है। इन काव्यों की लोक-प्रियता का कारण वाक्‌वैदग्ध्य भी था।

पर, कवि में विकास मिलता है। 'बापू' काव्य में कवि की कल्पना ने सान्त-मूर्त मानव गांधी में विराट् को आश्रय देकर अपनी ऊर्ध्वगामिता सिद्ध की है। यह उसकी मेधा का दूसरा विकास है।

कवि, वह भी प्रगतिवादी कवि ठहर नहीं सकता था। 'बापू' में 'गाँधी' को समझकर और उस गाँधी के द्वारा विश्व-जीवन के मर्म को समझकर वह उसी मर्म के सूत्र के साथ दूसरी भूमियों पर जाने को प्रस्तुत हुआ। 'नकुल' की यहीं उद्‌भावना हुई।

'नकुल' से हम सभी परिचित हैं। 'नकुल' पाँचों पाण्डवों में से एक है। 'महाभारत' में 'नकुल' का सम्पूर्ण जीवन वृत्त मिल जाता है—जन्म से लेकर अन्त तक का। प्रस्तुत 'नकुल' काव्य में वह समस्त वृत्त नहीं मिलता–वह होता तो 'नकुल' एक महाकाव्य हुआ होता। इस नकुल में तो कवि ने 'महाभारत' का एक बहुत छोटा कथानक लिया है। उस छोटे कथानक में नकुल के जीवन का कोई विशेष कार्य-कलाप महाभारत में भी प्रकट नहीं हुआ—गुप्तजी के इस 'नकुल' में भी नकुल का कोई उल्लेखनीय वृत्त नहीं आया। फिर भी गुप्तजी ने इस खंड-काव्य को 'नकुल' शीर्षक दिया है। ऐसा केवल इसलिए हुआ है कि कहानी का चरम-उत्कर्ष जहाँ पहुँचता है, वहाँ अनायास ही नकुल महत्त्वपूर्ण हो उठता है,

और 'नकुल' जीवन-व्यापार की एक नयी व्याख्या की कुंजी बन जाता है। नकुल के इसी महत्त्व को दृष्टि में रखकर, नहीं, इसी महत्त्व को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित करने और उसकी नयी व्याख्या करने के लिए ही प्रस्तुत काव्य की रचना कवि ने की है। नकुल का अर्थ कवि के समक्ष नये रूप में उद्घाटित हुआ है और उसी के कारण काव्य में एक नया प्रकाश आया है।

महाभारत के 'बनपर्व' में यह कथानक इस प्रकार है:

पांडव अपना चौदह वर्ष का बनवास समाप्त कर चुके हैं। उन्हें अब अज्ञात-वास करना है। इसी अवसर पर एक घटना घटी। पांडवों के पड़ौसी एक याज्ञिक ब्राह्मण की अरणि मथनिका को सींगों में उलझाकर एक हिरन भागा। तपस्वी ब्राह्मण को दुःख से मुक्त करने के लिए पाँचों पांडवों ने हिरन का पीछा किया। हिरन लुप्त हो गया—पाँडव चलते गये। इस दीर्घ प्रधावन के कारण उन्हें प्यास लगी। दूर पर एक तालाब था—वहाँ से पानी लाने का निश्चय हुआ। सब से छोटा पांडव भेजा गया। वह तालाब में पानी पीने और तूणीर भर कर ले जाने को तत्पर हुआ कि एक वाणी हुई कि रुको, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, अन्यथा मृत्यु होगी। पांडव ने अवहेलना की, जल से हाथ लगाया, और मृत्यु का ग्रास बना। दूसरा पांडव आया, तीसरा आया, चौथा आया—सभी का एक ही परिणाम हुआ—मृत्यु ! तब युधिष्ठर आये। उन्होंने पांचों भाइयों को तालाब पर निर्जीव पड़ा पाया। एक बार, कुछ क्षण के लिए, यह विचार उठा कि क्या दुर्योधन ने अपने गणों से यह तालाब विषाक्त करा दिया है। तालाब में देखा एक सारस खड़ा है। उन्हें भी वह वाणी सुनाई दी। उन्होंने प्रश्नों के उत्तर दिये। प्रश्नकर्त्ता अदृश्य था। वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वरदान में युधिष्ठिर से कहा—'मैं तुम्हारे एक भाई को जीवित कर सकता हूँ। जिसे तुम कहो उसी को जीवन-दान दूँ। युधिष्ठिर ने कहा—'नकुल को'। प्रश्नकर्त्ता ने पूछा—"यह क्यों ?" युधिष्ठिर ने कहा कि धर्म की प्रतिष्ठा यह चाहती है कि मेरी दोनों माताएँ पुत्रवती रहें। एक माता का पुत्र मैं स्वयं जीवित हूँ, दूसरी माता का पुत्र 'नकुल' और जीवित हो। इस उत्तर से प्रसन्न होकर प्रश्नकर्त्ता ने सभी को जीवन प्रदान किया। प्रश्नकर्त्ता स्वयं धर्म था, वही हिरन बनकर पाँडवों को यहां लाया था और इस तालाब का यक्ष बनकर उसने युधिष्ठिर के धर्म की परीक्षा ली थी।

यहाँ हमें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्रश्न अथवा पहेलियों के उत्तरों से अभीष्ट-प्राप्ति की लोक-कहानी विश्व-व्यापी है—और महाभारत में उसी विश्व-

लोक-वार्ता का एक रूप हमें मिलता है। हमारा भी प्रकृत विषय यह है कि गुप्त जी ने उस वस्तु का नकुल काव्य में कैसा उपयोग किया है।

गुप्त जी के ये 'प्रारम्भिक' कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य है :

"नकुल' का आधार महाभारत का बनपर्व है। रचयिता ने मूल वस्तु का उपयोग स्वतन्त्रता से किया है। ऐसा उसने इस मान्यता से किया है कि देश, काल और अपनी रुचि के अनुसार पैतृक धन का उपयोग करने की छूट सन्तति को है।...और यही कारण है कि इस रचना में 'अपनी भावना के और अपनी कल्पना के अनुसार चलने में रचयिता को संकोच नहीं हुआ।'"

इसी 'प्रारम्भिक' में अन्त में कवि ने यह भी कह दिया है कि

"प्रस्तुत रचना को यदि अपने में उल्लिखित उस पर्णकुटी का ही सौभाग्य मिल सका जिसे कुछ समय टिकने के उपरान्त पाण्डव-जन सूनी छोड़कर चल देते हैं तो रचयिता का परिश्रम सफल है।"

कवि के इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित होता है कि कवि ने मूल कथानक में अपनी कल्पना से घटाया-बढ़ाया है। वह उसने देश, काल और निज रुचि के कारण किया है। उसका इस रचना के निर्माण में प्रथम और प्रधान उद्देश्य सामयिक उपयोगिता है। किसी सामयिक उपयोगिता की पूर्त्ति के लिए जिस प्रकार पांडवों ने अपनी पर्णकुटी बनायी थी, उसी प्रकार की ही किसी उपयोगिता के लिए ही इस काव्य की रचना हुई है, वहाँ वन में पाँडवों की कुटी भी थी, और फूल भी। कवि ने काव्य के लिए कुटी की उपयोगिता को उपमान चुना है, पुष्प की सुन्दरता को नहीं। यदि सामयिक उपयोगिता की पूर्ति इससे होती है तो कवि सफलता समझेगा—दूसरे शब्दों में वह शाश्वत अथवा युगयुगीन आदर को इस रचना में विशेष महत्त्व नहीं देता।

प्रश्न यह है कि कवि ने मूल में क्या परिवर्तन किये हैं। इन परिवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए पहले संक्षेप में कथा वस्तु देनी होगी। वह इस प्रकार है :

पांचों पांडव और द्रौपदी जिस कुटी में रहते थे, उसी के पास एक तपस्वी भी रहता था। उसके यज्ञ करने की 'अरणि मथनिका' पेड़ पर टँगी हुई थी। एक हिरन आया, उस वृक्ष से उसने शरीर रगड़ा कि वह 'अरणि मथनिका' सींग में उलझ गयी। वह व्यग्र होकर भागा। जैसे-जैसे वह भागता था 'अरणि मथनिका' उछलती थी, और उसकी पीठ पर चोट करती थी। उस ब्राह्मण ने यह देखा तो बड़ा दुःखी हुआ। पांडवों की कुटी पर गया। वहाँ अकेले युधिष्ठिर थे। शेष

चारों भाई और द्रौपदी आज बनवास के अन्तिम दिन इस वन के सुन्दरतम स्थल को देखने चले गये थे। यह स्थल अमृतह्रद नाम का एक तालाब था, जो अमृताचल पर्वत के एक शिखर पर था। आज प्रातः ही जब द्रौपदी स्नान करने गयी थी तो मार्ग में एक 'वज्रसेन' से भेंट हुई। उसने बताया था कि अमृतह्रद पर दानव रहता है, वह मनुष्यों को कष्ट देता है। पांडव समस्त दानवों को मार चुके थे—यह दानव कौन है? उसे देखने और उस रमणीक स्थल का अवलोकन करने के लिए वे अमृतह्रद की ओर प्रस्थान कर चुके थे। युधिष्ठिर ने ब्राह्मण की कष्ट-कथा सुनी और वे हिरन का पीछा करने को चल पड़े। हिरन की एक झलक उन्हें दिखाई पड़ी—बस। वे अपनी धुन में चलते चले गये। यहाँ तक कि उन्हें प्यास लगी। पानी की खोज में वे एक आश्रम में पहुँचे। यह आश्रम अलकापुरी से निष्कासित मणिभद्र नामक यक्ष का था। युधिष्ठिर की यक्ष से बातें हुई। उसने बताया कि यहां का जल मत पीना। हस्तिनापुर का कोई मनुष्य इनमें विष डाल गया है। उसने यह भी बताया कि वह इन्द्रपुरी में अर्जुन के दर्शन कर चुका है और तब से वह अर्जुन का भक्त है, और उनकी नगरी हस्तिनापुर के प्रति भी उसका आदरभाव था। उसे आश्चर्य और खेद है कि उसी हस्तिनापुरी के मनुष्य ऐसा घृणित कार्य करते फिरते हैं। उसने यह भी बताया कि वह हिरन उसी का आश्रम-निवासी है, और वह 'अरणि मथनिका' सुरक्षित है। यक्ष स्वयं जब ब्राह्मण को अरणि मथनिका लौटाने गया तब वह ब्राह्मण से जान पाया कि जिस महानुभाव से वह अभी बातें करके प्रभावित हुआ था वह कोई और नहीं युधिष्ठिर थे—अर्जुन के बड़े भाई। अर्जुनादि चारों भाई और द्रौपदी अमृतह्रद गये हैं। इस सूचना से मणिभद्र को स्पष्ट हो गया कि हस्तिनापुर का जो मनुष्य जल में विष डाल रहा था, वह दुर्योधन का गण होगा। और पांडवों को मार डालने के लिए ही वह ऐसा कर रहा होगा। तो अमृतहृद भी विषाक्त हो सकता है। यह विचारकर वह तीव्रता से अमृतह्रद की ओर गया। सम्भव है, वह दुर्घटना होने से पूर्व ही उन्हें सचेतकर सके, यक्ष का अनुमान सत्य था। दुर्योधन के दुर्वृत्त नामक महत्त्वाकांक्षी गण ने वज्रबाहु नाम के एक व्यक्ति के सहयोग से अमृतह्रद को भी विषमय कर दिया था। इसी वज्रबाहु ने वज्रसेन बनकर द्रौपदी के मन में अमृतह्रद देखने की इच्छा उत्पन्न की थी। ये दोनों अपने षड़यंत्र में पूर्णतः सफल हो चुके थे, क्योंकि चारों पांडव और द्रौपदी अमृतह्रद पहुँचकर विष पीकर प्राण दे चुके थे। इस सफलता ने दुर्वृत्त के मन में जो भावी ऐश्वर्य के मनोचित्र प्रस्तुत किये उनसे वह मदोन्मत्त हो उठा, वज्रबाहु उससे भी बढ़ना चाहता था। दोनों मिले और झगड़ पड़े, और परस्पर एक दूसरे पर विष प्रयोग करके मर गये। उनके

लड़ने की ध्वनि से आकर्षित होकर युधिष्ठिर अमृताचल पर चढ़े और मार्ग में दोनों को मृतक देखकर वे समस्त रहस्य समझ गये। उन्हें भी भाइयों की चिन्ता हुई। वे अमृतह्रद की ओर लपके। वहाँ भाइयों और द्रौपदी को मरा पाया। तभी यक्ष भी वहाँ पहुँचा। उसके पास, पुरस्कार में मिली हुई, अमृत की एक बूँद थी। वह बूँद एक को जीवित कर सकती थी। युधिष्ठिर ने कहा, नकुल को जीवन दो। यक्ष को आश्चर्य हुआ। युधिष्ठिर ने समझाया। यक्ष समझा और उसने नकुल को अमृत दिया। पर वह अक्षय अमृत था। नकुल को जिलाकर अमृत की वह बूँद फिर लौट आयी—इस प्रकार सभी पांडव जीवित हुए और प्रातः होने से पूर्व ही 'अज्ञात-वास' के लिए प्रस्थान कर गये।

कवि ने महाभारत के कथानक में उक्त परिवर्तन क्यों किया, उससे क्या उपयोगिता सिद्ध की आदि बातों के विवेचन से पूर्व तो यह विचारना आवश्यक है कि महाभारत के इस अंश ने ही कवि ने क्यों आकर्षित किया?

इसके लिए यह अनुमान करने में तो कोई कठिनाई ही नहीं हो सकती कि चिरगाँव के इस कवि-कुटुम्ब में इतिहास से अधिक महाभारत-रामायण आदि का विशेष गौरव रहा है सियारामशरण जी का कुटुम्ब ही कवि है, और स्वाध्यायी भी है। महाभारत का पठन-पाठन होना अस्वाभाविक नहीं। जिस युग और जिस काल में कवि उत्पन्न हुए हैं, उसमें उपेक्षितों की ओर ध्यान देने की प्रवृत्ति विशेष लक्षित हुई इस प्रभाव के कवियों ने अपने विषय के निर्वाचन में पहले तो इस बात पर ध्यान दिया कि वह भारतीय गौरव का एक उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करनेवाला हो। उसका कोई पात्र या स्वयं घटना उपेक्षित रही हो, अथवा बहुत प्रकाश में न आयी हो, और नयी-सी लगे। उसमें कुछ अद्भुत भी हो, और उसके द्वारा बुद्धि और हृदय को तुष्ट करनेवाला कोई मानवता का सिद्धान्त और आदर्श प्रतिपादित तथा प्रतिष्ठित किया जा सके, और वह सामाजिक उपयोगिता के योग्य हो। तो सियारामशरण जी ने महाभारत पढ़ा होगा और बनपर्व में इस स्थान पर आये होंगे-इस कथानक के चरम-उत्कर्ष के स्थल पर 'नकुल' को अनायास ही पाकर वे चौंके होंगे। उन्हें इसमें उक्त बातें और सम्भवनाएँ विदित हुई होंगी। इस कथानक की ओर वे, हो सकता है, कुछ अँगरेजी पुस्तकों के पृष्ठों से भी आकर्षित हुए हों। जिस अवस्था के श्री सियारामशरण गुप्त हैं, उस अवस्था के सभी विद्यार्थियों को अँग्रेजी में अनुवादित महाभारत का यह अंश कहीं न कहीं पढ़ने को अवश्य मिला है। और उसकी छाप भी अवश्य पड़ी है। पर उस अनुवाद से 'नकुल' नहीं उभरता-युधिष्ठर की वह योग्यता और तत्पर-बुद्धि

प्रभाव डालती है, जिससे वे यक्ष को, उसके प्रश्नों को उत्तर देकर संतुष्ट करते हैं। यथार्थ यह है कि महाभारत की इस कथा को पढ़ते-पढ़ते 'नकुल' शब्द ने उन्हें आकर्षित किया। वे इसका समय-परक एक अद्भुत अर्थ कर गये। उसी अर्थ में सामयिक उपयोगिता का भाव उन्हें समझ पड़ा।

कोश की दृष्टि से 'नकुल' शब्द का अर्थ 'न्यौला', चतुर्थ पांडव, पुत्र, शिव आदि होता है। तो इस कोश के चतुर्थ पांडव तो नकुल थे ही—कवि ने इसके द्वारा 'न-कुल' इस समास विग्रह से 'कुल गोत' हीन का अर्थ भी ग्रहण किया। कृष्ण के वंशीधारी वात्सल्य रूप के दर्शन के समय कवि ने युधिष्ठिर के मन में यह भाव पैदा किया है;

> **ग्राम ग्राम में घाटबाट में, भीतर-बाहर,**
> **सुलभ रहेगा बाल रूप वह सबको घर घर।**
> **न कुल न गोत्र न जाति सभी को होकर निज जन**
> **देगा सबको भव्य भविष्यत का आश्वासन।**

यहां 'नकुल' शब्द से वही अर्थ लिया गया है। कुल-गोत्र-हीन का अर्थ हुआ ओछा, छोटा, नीच, लघु। इस अर्थ से एक ओर छोटों का प्रतिनिधि 'नकुल' हुआ; दूसरी ओर छोटों से भिन्न बड़े। इस प्रकार नकुल के आश्रय से कवि की दृष्टि में मानव-समूह दो वर्गों में बंट गया—एक छोटों का वर्ग, दूसरा बड़ों का वर्ग। किन्तु इससे यह नहीं" समझ लेना चाहिए कि कवि ने दो वर्गों की कल्पना से 'वर्ग-संघर्ष' का वर्णन किया होगा। नहीं, कवि वर्ग-संघर्ष की स्थिति सर्वथैव स्वीकार नहीं की। उसने ऐसे दो वर्ग पृथक्-पृथक् नहीं माने जिनमें न तो परस्पर कोई नेह-संबंध है, न जिनमें कोई निजत्व है। कवि गांधीवादी है, उसकी मौलिक मान्यता जग को कुटुम्ब मानने की है : "वसुधैव" कुटुम्बकम्", वह परस्पर-विरोधी हितोंवाले वर्गों को खड़ाकर उनके नाश द्वारा वर्गहीन समाज का संदेश नहीं देना चाहता। वह 'हृदय-परिवर्तन' के धर्म में विश्वास करता हुआ 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्' (ईशोपनिषद) का हल प्रस्तुत करना चाहता है। इस सिद्धान्त की दृष्टि से 'नकुल' गुप्त जी के आकर्षण की वस्तु बना, अब उन्होंने इसी दृष्टि से कथानक का संशोधन प्रस्तुत किया। पहले तो उन्हें 'नकुल' को सबसे छोटा मानना पड़ा। महाभारत के युधिष्ठिर ने तो धर्म यही माना कि प्रत्येक मां का ज्येष्ठ पुत्र जीवित रहे। युधिष्ठिर कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे, 'नकुल' माद्री के। किन्तु गुप्त जी तो नकुल की नयी व्याख्या

करने चले हैं। उन्हे तो 'नकुल' को सबसे छोटा बनाना था। उन्होंने 'नकुल' से स्वयं ही ये शब्द कहलाये हैं:

> पीछे आकर नहीं किसी बिधि से में वंचित,
> मेरा भाग्य सुदीर्घ चार अंकों तक संचित

जिसका अर्थ स्पष्ट है कि वह चारों से छोटा था। इतना परिवर्तन उसने स्वीकार किया तो यह अड़चन आयी कि कथा-सूत्र को किस प्रकार स्वाभाविक और सामयिक बनाया जाय। धर्म द्वारा यक्ष-रूप धारण करना और माया से सबको मूर्छित करना उसे 'धर्म' के स्वरूप की रक्षा के लिए ग्राह्य न हो सका। महाभारत की कथा के तात्विक अंश की रक्षा तो उसे करनी ही थी—वह अंश द्वैधा था—एक त एक ह्रद अनिवार्य, जिसका जल पीकर चारों भाइयों की मृत्यु हो, युधिष्ठर बचे रहें। यह ह्रद मायावी न हो। दूसरे-यक्ष हो, जिससे वार्तालाप हो युधिष्ठर का; इसी यक्ष के द्वारा चारों भाई जिलाये जायें। 'अरणिमथनिका' वाला प्रसंग भी अक्षुण्ण रहे। इस दृष्टि से 'ह्रद' तो उसने अमृताचल पर्वत के ऊपर 'अमृतह्रद' नाम से स्थित किया। पर्वत की कल्पना से बन की शोभा बढ़ी, और ह्रद कत पहुँचने में पात्रों को इतना समय भी लगा कि एक दीर्घ व्यापार समाप्त हो सका। उसके जल को पीने से मृत्यु भी स्वाभाविक हो सकती है जब जल विषम हो। यहां 'महाभारत' में ही जो संकेत था कि युधिष्ठर ने अनुमान किया कि क्या दुर्योधन के गणों ने जल विषाक्त कर दिया है? इसी को कवि ने यथार्थ माना है और दुर्वृत्त को नियुक्त करके ह्रद को विषाक्त करा दिया, पर अब युधिष्ठर की रक्षा कैसे हो? इसी के लिए यह कल्पना की गयी कि इतने ऊँचे पर्वत पर भ्रमणार्थ ही वयोवृद्ध युधिष्ठिर क्यों जाँय? वे कुटी में ठहरें, शेष आनन्द प्राप्त करें। इस प्रकार दो दल हो गये। अब 'अरणिमथनिका' का प्रसंग भी ज्यों-का-त्यों रह सकता है। हिरन सींग में लेकर भागा और अकेले युधिष्ठिर ने पीछा किया। उन्हें यक्ष से मिलना आवश्यक था-अतः अवतारणा हुई कि वह यक्ष धर्म नहीं 'मणिभद्र' है। 'मणिभद्र' कौन? युधिष्ठिर ने बताया है—

> होगा पर मणिभद्र नाम से कौन न परिचित?
> गुंजित हैं वे वचन आपके गिरि-गिरि बन-बन,
> जन-जन में सर्वत्र कर रहे हैं मधुवर्षण
> धनपति ने जब परस्कार में किसी कार्य के

बहुत-बहुत मणिरत्न किये थे भेंट आर्य के
फेर दिया था उन्हें आपने निस्पृह रहकर;
वेतन से अतिरिक्त लाभ उत्कोचन कहकर।
इष्ट नहीं है अधिक, मिल रहा है बहुतेरा;
मेरा अपना कार्य पारितोषिक है मेरा।'
इसी कथन पर मिला आपको यह निर्वासन

निर्वासित मणिभद्र अमृताचल के नीचे आश्रम बनाता है। वह हिरन उसीके आश्रम का है, वह विचरता हुआ पांडवों की ओर जा निकला है, तभी 'अरणि मथनिका' की घटना घटती है, और युधिष्ठिर उसका पीछा करते हुए 'मणिभद्र' से मिलते हैं। किन्तु मणिभद्र महाभारत का धर्मरूप यक्ष नहीं। वह युधिष्ठिर की परीक्षा नहीं ले सकता। यही कारण है कि मणिभद्र के प्रश्न उसकी वास्तविक जिज्ञासा के द्योतक हैं। दुर्वृत्त और वज्रबाहु को कवि ने परस्पर लड़ाकर मार डाला है।

ये परिवर्तन कवि ने मूलकथा में संशोधन करने के लिए किये। इन संशोधनों के साथ उसने कुछ परिवर्द्धन भी किये। दुर्वृत्त और वज्रबाहु भी परिवर्द्धन में ही माने जायँगे। पर वे कथा की स्वरूप-रक्षा के लिए आवश्यक हो गये थे। पर काव्य के उद्देश को पूर्ण, पुष्ट और कलामय बनाने के लिए कुछ और परिवर्द्धन करने पड़े। ये परिवर्द्धन दो प्रकार के हैं—एक तो कथा के शून्य की पूर्ति के लिए—कवि केवल कहानी कहने नहीं बैठा—उसे काव्य प्रस्तुत करना है। उसके लिए उसे कहानी के ढाँचे को भरना पड़ेगा। यह कथात्मक-सज्जा ऐसी होनी चाहिए कि कलात्मक भी हो, उद्देश्य में सहायक भी हो, और कथा को गति भी दे। फलतः जब पाँचों पाण्डव और द्रौपदी हैं, वन में हैं, तो वे कुछ-न-कुछ करेंगे ही। क्या करेंगे उसकी कल्पना कवि ने यों की है—

द्रौपदी प्रातः उठकर सरिता-स्नान करने जायगी। वह मिट्टी की मूर्ति तो है नहीं, कुछ देखेगी, कुछ सोचेगी। देखेगी प्रातः-शोभा, नदी, वन, अपनी कुटी—और क्योंकि चौदह वर्ष के बनवास का अन्तिम दिन है, और कल यह स्थान और कुटी उसे छोड़नी होगी—वह इसी दृष्टि से समस्त प्रकृति को देखकर विचार करेगी। स्नान करके लौटने के समय उसे वज्रसेन के रूप में वज्रबाहु मिल जायगा। वह अपनी बातों से अमृतह्रद देखने की उत्कण्ठा द्रौपदी में उत्पन्न कर देगा; अब द्रौपदी युधिष्ठिर की पूजा के लिए पुष्प चयन करेगी।

किन्तु आज द्रौपदी को समय से अधिक देर लग गयी है। कारण स्पष्ट है। तब युधिष्ठिर भाइयों से बातें करने लगेंगे, और बातें होंगी पारस्परिक प्रेम की और क्योंकि काव्य को 'नकुल' होना है, इसलिए इन बातों में घुमा-फिरा कर नकुल को महत्त्व देना पड़ेगा। यहाँ वात्सल्य का परिपाक होगा। उधर अर्जुन द्रौपदी को खोजने निकल पड़ेंगे, और फूल चुनते उसके प्रातःकालीन सौन्दर्य को देखकर मुग्ध होते हुए उससे बातें करने लग जायँगें और सरिता-किनारे भ्रमण करते चल पड़ेंगे। सामने पर्वत को अड़ा देखकर रुकेंगे, यहीं द्रौपदी को उस पर्वत पर स्थित अमृतह्रद का पुनः स्मरण होगा, और वह आज अन्तिम बार उस स्थान की आनन्दयात्रा का प्रस्ताव कर देगी। वे लौटेंगे और युधिष्ठिर से आज्ञा पाकर अमृताचल यात्रा को चल पड़ेंगे—युधिष्ठिर यह कहकर कुटी में ही रह जायँगे :

हलके हो तुम तात, तुम्हीं चढ़ सकते ऊपर;
मुझे बहुत यह, रहूँ पार्वती के पद तल में।
कब अब मेरा भाग अम्बिका स्तन्य अमल में।

हम यह माने लेते हैं कि जब अर्जुन और द्रौपदी अकेले भ्रमण कर रहे हैं तब वे पति-पत्नि भाव से बातें करेंगे, विविध मनोरंजक और प्रेम-पवित्र बातें। जब वे सब पर्वतारोहण कर रहे होंगे तो बातें विनोद की होते हुए घूम-फिरकर फिर नकुल पर केन्द्रित हो जायँगी, नकुल बंशी बजाना जानते हैं। उनका स्वर गूँज उठेगा। फिर थकावट आरंभ होगी, फिर प्यास और फिर मृत्यु-त्रास !'

इस प्रकार कथान्तर्गत शून्य की समस्त पूर्ति हो जायगी, कवि को सन्तोष होगा पर, एक दूसरा परिवर्द्धन भी इस कवि ने किया है। उसने तीन प्रसंगों की अवतारणास्मरण अथवा संस्मरण के रूप में और करायी है। ऐसा उसे उद्देश्य को और संदेश को पुष्ट करने के लिए तथा काव्य की एक-रसता को दूर करने के लिए भी करना पड़ा है।

१—युधिष्ठिर हिरन के पीछे चल पड़े हैं। चलते-चलते उन्हें भी तो कुछ सोचना है। वन-वृक्ष-लता-पता-प्रकृति उनको कुछ देर उलझाती है, पर उनका ध्यान तो एक अद्भुत सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हो चुका है। वे वृन्दावन में पहुँच चुके हैं, वे बहुत पहले की बात स्मरण कर रहे हैं। वहाँ वंशी बजाते बालकृष्ण की अनोखी शोभा वे देखते हैं। गोपी मुग्ध हैं, हिरन भी मुग्ध हैं; और वे हिरन के अपने बन जाते हैं। हिरन के प्रसंग से यह स्मरण उन्हें हो

आता है। इस दृश्य के द्वारा हृदय की प्रेम भरी मधुरता की शक्ति की छाप पड़ती है। युधिष्ठिर इस संदेश को शाश्वत समझते हैं।

(२) युधिष्ठिर और मणिभद्र मिल चुके हैं। मणिभद्र के लिए हस्तिनापुर नाम में विशेष आकर्षण है। युधिष्ठिर की जिज्ञासा पर मणिभद्र अमरपुरी का अपना वह संस्मरण सुनाता है, जब अर्जुन वहाँ गये थे, और इन्द्र के अतिथि बने थे। वहाँ उसने अर्जुन को देवताओं के चमत्कार और वैभव और ऐश्वर्य से बिना प्रभावित हुए अपने साधारण वेष में अविचलित और हृष्ट भाव से बैठे देखा था-उससे उसे कितना सुख और आत्मबल मिला था :

> वहाँ--जहाँ जग रही महोत्सव दीपक-माला।
> अन्तस् की यह ग्लानि, संगिनी इस जीवन की;
> निराभरणता,—छाप दीनता की इस तन की,—
> गई न जाने कहाँ निमिष में ही भीतर से,
> रिक्त वेश में यहाँ पार्थ के दर्शन भर से।"

वस्तुतः कवि ने इस प्रसंग में मणिभद्र के व्याज से स्वयं गाँधी जी की उस ऐतिहासिक इंगलैंड यात्रा का वर्णन किया है जिसमें गाँधी जी अपने साधारण दैनिक वेष में ही वहाँ के सम्राट से मिले थे, और सम्राट् को उनके लिए सहस्रों वर्षों की पुरानी परम्परा तोड़ देनी पड़ी थी। इसमें मानव की महानता का भाव कवि ने अमर कर दिया है।

३—पुष्प चयन करती द्रौपदी से बातें करते समय—वन, लता, पुष्प के साथ द्रौपदी को देखकर अर्जुन को अपनी एक कैलाश-यात्रा का स्मरण हो आया। वहाँ, पार्वती के यहाँ उन्होंने इसी भारतभूमि की एक कंटकिता लता देखी—पार्वती जी से वे पूछ बैठे—यह क्यों? पार्वती जी ने राम के साथ बनवास भोगती हुई सीता जी के दर्शन करने का अपना संस्मरण सुनाया—उन्होंने देखा :

> "सीतासह श्री रामचन्द्र रघुवंश दिवाकर,
> इसी विजन में बैठ गये हैं एक शिला पर।
> भाभी के क्षत चरण-कमल अवलोक व्यथायुत,
> आगे पथ की टोह में गये हैं लक्ष्मण द्रुत।
>
> × × ×
>
> सीता के सन्निकट सुभागिनि लता यही थी,
> शूल-शयन पर स्वर्ण-सुमन में फूल रही थी।

"आर्यपुत्र, यह विजन-लता फूली है कैसी,
बोले राघव—विजन बीच शोभित तुम जैसी,
सीता ने सप्रेम तभी वह पुष्प चयन कर,
किया समर्पित समाराध्य के पद-पद्मों पर।
जैसी भी हो देव—अधिक इससे क्या चाहे,
सीता अपना भाग्य इसी सा सतत सराहे,

और इस संस्मरण के द्वारा पुनः मानव की प्रतिष्ठा के साथ स्त्री का भाग भी इस छोटे से काव्य में कवि ने दिला दिया है। संकटों में, घर-बार त्याग कर, वन और बीहड़ में, पर और अपरिचित प्रदेश में ही टकराती और भटकती नारी को ही इसमें संदेश नहीं वरन् नारी के अमर समर्पण को कवि ने यहाँ वाणी दे दी है। 'नकुल' का यह संक्षिप्त स्वरूप है।

यह 'नकुल' काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें मानव की, लघु मानव की जय ही नहीं घोषित है, समग्र सृष्टि के प्रेम की पावनता का अधिकार सिद्ध किया गया है। कवि ने मनुष्य, पशु और प्रकृति का एक मनोरम कौटुम्बिक रूप खड़ा कर दिया है। वृक्ष, नदी, पर्वत सभी जैसे जीवन में एक स्थान रखते हैं, उनमें भी एक जैसे उदारता है, पारस्परिक सहानुभूति का भाव जैसे उनमें व्याप्त है—हिरन का पीछा युधिष्ठिर कर रहे हैं—और चारों ओर अगम्य बन हैं—वहाँ उन्हें यह अनुभूति होती है :

आगे पीछे इधर-उधर झाड़ी ही झाड़ी,
नीचे-ऊँचे सरस-शुष्क वृक्षों की बाड़ी।
इनमें मृग का हितू हुआ वह कौन अयाचित,
जिसकी छाया—यथा उठी उँगली का इंगित।
बता रही थी उसे सुरक्षित पथ आगे का ?

इसमें प्रकृति का यह सहानुभूतिपूर्ण सहयोग केवल अलंकार्य नहीं। वह यथार्थ व्यापार है, हिरन उस अगम्य वन में सुरक्षित मार्ग पाता चला गया—यह क्या बिना प्रकृति के सहयोग के संभव हो सकता था ? युधिष्ठिर की अनुभूति में प्रकृति का वह यथार्थ सहयोग एक सम्भवना के रूप में ही हुआ है, और उस संभावना में वे विश्वास करके उस अज्ञात को धन्यवाद दे उठे हैं :

धन्य बन्धु अनजान प्राण लेकर भागे का,
नमस्कार है उसे ?

पशु-पक्षियों के साथ यह कौटुम्बिक भाव कुछ ही आगे और स्पष्ट होता है, जब युधिष्ठिर के मन में वहाँ की स्थिति से ये भाव जागृत होते हैं :

किस रहस्य की किये वनाली है रखवाली,
दिये हुए हैं अधर पल्लवों पर अँगुली-सी!
इसकी छाया-लटें लहरती हुई खुली सी,
उस जननी का स्मरण दिलाती यह मनभाया।
जिसका छौना कहीं उपद्रव कुछ कर आया,
इस डर से,—ले जाय न कोई शिशु को धरकर।
व्याकुल हो जो करुण भाव नयनों में भर कर,
'यहाँ नहीं वह!' ध्वनित यहाँ की नीरवता में -

प्रकृति की वन-शोभा में इस वात्सल्य-भाव की व्याप्ति प्रकृति के कौटुम्बिक भाव को दृढ़ कर रही है। यह अवस्था प्रकृति की पशुओं के लिए ही नहीं, जो अपने हैं, सभी के लिए है—द्रौपदी पहले-पहल वन में आयी तो उसे यह अनुभव हुआ :

इस वन में, इस वनस्थली में मैं जब आई,
मैया की-सी गोद यहाँ आते ही पाई।

प्रकृति के प्रति यह भावना भारत की दीर्घ परम्परा में आती है। वनदेव और वनदेवी की कल्पना कितनी प्राचीन है। तुलसी ने सीता के आश्वासन के रूप में कहा है—

वनदेवी वनदेव उदारा।
करिहहिं सास-सुसर सम सारा॥

और, गुप्त जी में उसी प्रकृति की वनदेवी को साक्षात् 'मा' रूप में हम देखते हैं। यही नहीं कवि इस वाह्य वात्सल्य के मनोमुग्धकर भाव से और भी ऊँचा उठकर प्रकृति के इस सम्पर्क को दिव्य बना देता है—विकल द्रौपदी वन की गंगा में अनायास ही अपने को भूलकर एक आध्यात्मक अनिर्वचनीय अनुभूति की लहर में परिप्लावित हो उठती है। द्रौपदी विचार कर रही है :

तेरे तट पर इधर उधर इन तरु पुंजों में,
मृदु मारुत-मर्मरित विहग-कूजित कुंजों में,
बैठी बैठी दूर देखती हुई दिगन्तर,

पाया जब तब, भरा भरा है मेरा अन्तर,
सुख था अथवा दुःख न निर्णय कर पाई वह।
अनुभव भर कर सकी अनिश्चत वह, निश्चित वह!
कहलो कुछ भी उसे भले उसके पल दो पल,
इस जीवन के अमृत बिन्दु बनकर हैं झलमल।

द्रौपदी अनुभव कर रही है, उन क्षणों में आत्मा में अमृत-भाव का संचार अवश्य हुआ—तभी वह कहती है :

पल दो पल वे, पता नहीं, किस ऊर्ध्व धरा से
टपके थे ज्यों काल वृक्ष के सुफल त्वरा से—

प्रकृति के इस वर्णन में कलाकार का उत्कर्ष स्पष्ट जगमगा उठा है। हमें साहित्य में प्रकृति के कितने ही रूप मिलते हैं। प्रकृति का उद्दीपन रूप हमें साहित्य में बहुधा मिलता है, पृष्ठभूमि वाली प्रकृति का भी अभाव नहीं, अलंकार-रूप में प्रकृति को हँसते-रोते भी देखा गया है, कोई कोई दार्शनिक नदी-नालों और वृक्षों में पठनीय पुस्तकों के दर्शन भी कर सका है, किसी-किसी को प्रकृति पुरुष के आध्यात्मिक सम्पर्क का संकेत लिए मिली है। किन्तु सियारामशरण के कलाकार कवि ने प्रकृति को मनुष्य और पशु से अभिन्न कर कौटुम्बिक स्नेह और सहानुभूति के रससे ही अभिमंडित नहीं किया, उसके द्वारा उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होने की शक्ति का भी उद्घाटन किया है, जो अभिनव है। प्रकृति के सौंदर्याङ्कन में इससे सात्विक भाव का जो रंग चढ़ता है वह अनुपमेय है, और आत्म-बल को दृढ़ करनेवाला है और रुचि का परिमार्जन। यहीं कवि की कला की परीक्षा होती है। यों प्रकृति को इसने भी कहीं कहीं उद्दीपन, पृष्ठभूमि अथवा उपमान-रूप में प्रस्तुत किया है, उसकी आकार-सुषमा का आकर्षण प्रस्तुत किया है, पर वह सब प्रासंगिक है, यही भाव मौलिक हैं, और कवि के साथ यही यथार्थ है।

पर 'ऊर्ध्वधरा' के उल्लेख से यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए कि कवि किसी ऊर्ध्व से बहुत प्रभावित है। भावों के ऊर्ध्व धरातल में विश्वास करते हुए कला में वह मानव और मानव में भी 'न-कुल'-दीन-हीन किंकर की प्रतिष्ठा प्रस्तुत करता है। कवि और कलाकार ने अब तक मनुष्य से अधिक देव, और भूमि से अधिक स्वर्ग को महत्त्व प्रदान किया था। इसलिए हमारी समस्त प्रेरणाओं का उद्रेक इन्हीं के द्वारा होता है।

कोई बहुत प्रसन्नता का प्रशंसनीय कार्य हुआ तो कहा जाता था:—

बरसि सुमन हर्षहिं अमर

देवी-देवताओं द्वारा पुष्पवर्षा हिन्दी-संस्कृत सहित्य में प्रसिद्ध कवि-समय की भाँति ग्रहीत थी। स्वर्ग-प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य था। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि जीतने पर पृथ्वी भोगोगे, युद्ध में काम आने पर स्वर्ग भोगोगे। मनुष्य-देव का यह भेद जहाँ देवताओं को उत्कर्ष प्रदान करता था वहाँ मनुष्य में हीनता-बुद्धि और अकर्मण्यता को जन्म देता था। यद्यपि ऐसे भी स्वर साहित्य में विद्यमान रहे हैं, जिनमें भारतभूमि की प्रशंसा की गयी है और 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ऐसा भी कहा गया है। पर ये स्वर अत्यन्त मन्द और अस्पष्ट रहे। मानव और धरा में श्रद्धा का लोप और देवताओं तथा स्वर्ग-अपवर्ग में विश्वास—यह अब तक के समस्त भारतीय धर्मों का ध्येय रहा! अवतारवाद ने कुछ संशोधन तो किया, पर इससे भूमि का महत्त्व तो बढ़ा; भूमिपुत्र, पृथ्वीपुत्र, का महत्त्व नहीं बढ़ा। इस परम्परा ने तो मानव-आस्था नष्ट कर दी थी, और इधर आधुनिक वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद ने अमर और स्वर्ग में से आस्था नष्ट कर दी। फलतः मनुष्य की पूर्ण मृत्यु हो गयी—न उसे इस लोक में विश्वास रहा, न उस लोक में। वह छाया और प्रेतों में भ्रमने लगा। उसकी नीति का पेंदा फूट गया। टाल्सटाय और गाँधी ने मानव के इस महान् पतन को देखा—ये दोनों महान् कवि और द्रष्टा थे। जिसे न स्वर्ग का सहारा है, न मृत्यु का; वह अतल होकर कहाँ जायगा! तभी मानव की पुनः प्रतिष्ठा की बात कही जाने लगी—मैथिलीशरण गुप्त ने पहले तो यह कहा कि मैं मनुष्यत्व को सुरत्व की जननी कह सकता हूँ। फिर राम को पृथ्वी पर अवतीर्ण करके कहा कि मैं मनुष्यों को स्वर्ग ले जाने के लिए नहीं आया, वरन् यहीं स्वर्ग स्थापित करने आया हूँ। इसी कवि ने पहली बार 'नहुष' में स्वर्ग को मनुष्य का भुक्तोच्छित—भोग करके त्यागा हुआ—जूठन कहा था। और तब उन्होंने पहली बार खोये मानव को पुनः प्रतिष्ठित करने का एक उद्योग किया था। इस युग का खोया मानव कैसे पुनः पाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है? सियारामशरण जी ने कहा कि उस का साधन यही है कि मानव और भूमि में पुनः आस्था स्थापित की जाय। तभी उनका कवि अर्जुन के साथ दो बार दिव्यलोक में गया है—एकबार इन्द्रपुरी में—देवताओं के राजा के यहाँ, दूसरी बार कैलाश पर माता भवानी के पास। और प्रत्येक बार वह 'मानव की प्रतिष्ठा' के भाव में पुष्ट होकर लौटा है। पृथ्वी को वह स्वर्ग ले गया है, और वहाँ से पृथ्वी अपने गौरव के साथ, गौरव की छाप

छोड़कर अपने में पूर्ण आश्वस्त लौटी है। मणिभद्र ने अर्जुन की इस स्वर्ग-यात्रा का वर्णन किया है—उस देवलोक में अलकापुरी का यह यक्ष भी हीनता-भाव अनुभव कर रहा था—मणिभद्र ने उस अद्‌भुत दृश्य का वर्णन यों किया है :—

बढ़कर आता गया पार्थवाही गज ज्यों-ज्यों,
तर-तर होता गया तरंगित मानस त्यों-त्यों।
अब समीप से देख धनञ्जय को मैं पाया,
नर तो पहली बार कहीं दर्शन में आया।
मुख में थी मुस्कान कि थी मुस्कान समुखमय,
उलझ गये उस एक सत्य में संकल्प-द्वय।
वह दिव वैभव, प्रभामयी मणियों का मेला
सुरपुर की सौंदर्य-तरंगों की वह खेला,
चकित नहीं कर सकी पार्थ को जैसे कण भर।
दमित न था ज्यों किसी हीनता में वह क्षण भर।
समासीन उस देव-द्विरद पर ऐसे वह था,
मानों उसके लिए सतत साधारण वह था।

और इस दर्शन ने मणिभद्र को अपने से तुलना करने पर बाध्य किया :

मैं यह जो हूँ धनदपुरी का छोटा चाकर
जड़ित तुल्य रह गया खड़ा विस्मय में आकर।
जिसके तनु पर न हो क्षुद्र मणि का भी गहना
जिसने कर्कश कठिन वसन वल्कल का पहना,
धन में जिसके पास धनुष भर हो साधारण,
कर कैसे वह सका वहाँ निज दैन्य निवारण!

यहीं तो मनुष्य का, पृथ्वीपुत्र का, यथार्थ महत्त्व सिद्ध हुआ, और पृथिवीपुत्र मानव में यों पुनः आस्था लौटी—

धन्य धनंजय! धन्य तुम्हारा शुभागमन यह
ऊर्ध्व लोक में धन्य तुम्हारा समुन्नयन यह
प्रकटित तुमने किया सहजपन से ही आके।
सच्चे सुत हो तुम्हीं मृण्मयी वसुंधरा के
उसके निम्न नितान्त सर्वसाधारण जनसम,

आये हो तुम यहाँ स्वर्ग में मान्य महत्तम।
करके निज को राज-वेश-भूषा से सज्जित।
किया न तुमने किसी धरित्री-सुत को लज्जित—

यह फिर वही स्थल है जहाँ कवि की कला के उत्कर्ष की परीक्षा होती है। मानव के इस उत्कर्ष में मानव के 'निजत्व' का आदर है, और इस निजत्व में मानव की अडिग आस्था! इसी मानव के स्वभाव के धर्म में कवि ने यथार्थ उत्कर्ष अंकित किया है। देवताओं को उसने गिरने नहीं दिया। उनका अपना वैभव है, उनका अपना निजत्व है। उसमें साधारणतः हीनता-भाव उत्पन्न करने का आतंक है—और मानव उससे बचता है और अप्रभावित रहता है तो देवत्व स्वयमेव उस मानव के समक्ष दीन हो जाता है, अपने समस्त ऐश्वर्य की चकाचौंध रहते भी चित्र में यदि विकृत और कुटिल रेखाएं डाले बिना सात्विक भाव महमह महक उठे, उभर उठे और सप्राण खड़ा हो सके तो कलाकार को आप क्या कहेंगे? यहाँ तो उस मानव की इस विजय का उद्घोष एक यक्ष—एक अ-मानव कर रहा है—एक अन्य पुरुष—और उसकी यह विचारणा अर्जुन को समस्त मानवों का प्रतिनिधित्व प्रदान कर देती है :

उस दिन का सत्कार उन्हीं का न था अकेला।
इस अवनी में जहाँ कहीं भी हैं जितने जन,
न कुल न गोत्र, न जाति किसी में जिनका आसन
वे सब उसके संग हुए थे उच्च अधिष्ठित"

जो कला यहाँ है, वह कैलाश-यात्रा में पार्वती के मुख से सीता की प्रतिष्ठा में भी है। एक चित्र में इस कलाकार ने मनुष्य के वास्तविक महत्त्व को चित्रित किया है, दूसरे में स्त्री के स्त्रित्व को! यथार्थ में ये सब विशद व्याख्या चाहते हैं। प्राचीन चित्रों को नयी रेखाओं से इस प्रकार चित्रित करने की कला का बल क्या सहज ही आँका जा सकता है।

कवि का यह कला-सौष्ठव मानव-स्वरूप की यथार्थ अनुभूति में बाधा डालने वाले तत्वों को हटाने में है। उसने देखा है कि मानव के स्वरूप की अनुभूति के स्पष्ट होने में सबसे बड़ी बाधा 'हीनता' भाव के कारण है। यही हीनता-भाव मनुष्य के पतन का प्रधान कारण है। छोटे-बड़े का, क्षुद्र महत् का भेद संसार में अवश्य रहेगा—वह किसी भी विधि किसी भी प्रणाली से मिटाया नहीं जा सकता—"होगा निश्चय क्षुद्र-महत् का भेद भुवन में" फलतः 'लघु' अपने अहंकार में 'महत्' से, बड़े से, स्पर्द्धा कर सकता है।

यह स्पर्द्धा-भाव हीनता-भावमंडल पैदा करेगा ही। विषमता के कारण अनेकों रोग और अनेकों संघर्ष उत्पन्न होंगे ही। आर्थिक विषमता दूर करने मात्र से मनुष्य समाज में सुख और शान्ति नहीं आ सकती। कवि की जो पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत की गयी हैं, उनमें से जैसे इसी आर्थिकवाद का प्रतिवाद झलक रहा है। आर्थिक विषमता तो अन्य अनेक अनिवार्य विषमताओं का एक परिणाम है। मनोविश्लेषण-शास्त्र की प्रतिष्ठापक फ्रायड-ऐडलर-जुंग की आचार्यत्रयी में से एक ने भाव-मंडल (Complex) को भी सहजात माना है। यहाँ हमें आर्थिक विषम-वितरण के सिद्धान्त में विश्वास रखनेवालों के दर्शन की आलोचना नहीं करनी। कवि निश्चय ही यह मानता है कि मनुष्य के दुःख का मूल कारण उसका हीनता-भाव-मण्डल (Inferiority Complex) है। इसी से उसमें तृष्णा, असंतोष और अशांति होती है। मूल कारण स्वयं प्रकृति में है, वह अनिवार्य है, वह मनुष्य दूर नहीं कर सकता। उसको दूर करने का मूल-मंत्र एक है—उस मौलिक विषमता को यथार्थतः ग्रहण करना, और स्वस्थतः उस पर विचार करना। न तो अपने लघुत्व पर हीनता अनुभव करना, न महत्त्व पर अहंकार। प्रत्येक का अपना गौरव है; उस गौरव को उसे निर्भ्रान्त उसकी निजी गरिमा के अनुकुल मूल्य प्रदान करना है। ऐसा करने से ही इस द्विविधा के युग में मानव की अपनी खण्डित प्रतिमा का उद्धार संभव है। अर्जुन को अविचलित, अप्रभावित और प्रसन्न भाव से अपने ही दरिद्र-वेष में ऐश्वर्य के समक्ष उपस्थित कराके कवि ने यही हीनता-भाव दूर करने का प्रयत्न किया है। सुख और दुःख के सम-असम वितरण की चर्चा के वातावरण में, जबकि दमित काम-कुण्ठा के चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हों, काव्य-कला द्वारा मानव-प्रतिष्ठा का यह स्वर अभिनव है; सौम्य और गहरा है।

मानव को मानव बनाकर कवि ने अपनी भूमि की प्रतिष्ठा भी लौटायी है—अर्जुन ने अपनी कैलाशयात्रा के संस्मरण सुना कर सीता के समर्पण का मर्म प्रकट किया। पुष्प के बहाने सीता ने राम के चरणों में जो समर्पण किया उसके स्मरण से पार्वती भी गद्गद् हुईं, और द्रौपदी को तो आत्मविभोर होना ही था। यह उस रसमय स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था, तभी उसने भी सीता की भाँति अर्जुन से कहा :

बोली वह—"प्रिय, और अधिक कृष्णा क्या चाहे,
इन सुमनों-सा भूरि भाग्य वह सतत सराहे।"

पर इस समर्पण से ही पुरुष को यथार्थ बल मिलता है। अर्जुन भी गद्गद हैं :

"और प्रियतमे, कृती आज अर्जुन भी है यह,
जो यों गिरि वन पार कर रहा है साध्वी सह।"

इस भाव-विमुग्ध मनोस्थिति में वह प्राकृतिक सुषमा, और उसी समय कोकिल की कूक! द्रौपदी के हृदय में सुख और आनन्द का सागर उमड़ पड़ा! उस क्षण के सुख से अधिक सुख फिर कभी मिल सकता है क्या? वह क्षण सुख का चरम था। और तभी क्षणजीवी उमरखय्यामियों की भाँति द्रौपदी कह उठी :............

"प्राणेश्वर
यह बेला, यह सङ्ग और यह मंजुल मर्मर!
ऐसे ही में क्यों न प्राण-पिक भी उड़ जावें,
कूक चुका भरपूर, लोभ क्यों वृथा बढ़ावें।"

कवि ने प्रेमी के हृदय के सुख और आनन्द की मदोन्मत्तता यहाँ जैसे अविकल प्रस्तुत कर दी है। हम द्रौपदी के हृदय में उठनेवाली कोकिल की कूक-सी एक हूक का अनुभव करते हैं; उसके अन्तर में एक प्रकाश की झलमलाहट अनुभव करते हैं। द्रौपदी ने जो चाहा है, उससे अधिक और क्या चाहा जा सकता है?

तभी कवि इस उन्माद को धीरे-धीरे अर्जुन की वाणी से उतारता है। यहीं वह अपनी भूमि का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह प्रतिष्ठित, अखंडित मानव के कर्म का महत्त्व प्रतिपादित करता है, यहीं वह पलायन का विरोध करता है; क्यों हम इस भूमि को छोड़कर स्वर्ग जाने की सोचें?—

निःशेषित क्या हुआ रसा का था जो जितना,
शूल-फूल का सुरस न जाने अब भी कितना।
एक अवधि गत हुई, दूसरी अभी अजित है;
यह दुर्गम उत्तीर्ण, अन्य वह समुपस्थित है।
सोहेगा क्या यहीं हमें यह भाव-पलायन,
लेने को हैं काल-करों के विपुल उपायन।"

यहाँ तो एक के बाद एक काम प्रस्तुत हैं, उन्हें छोड़ कर स्वर्ग की चाहना पलायन है—अर्जुन ने इसीलिए कहा—

'विधि ने विरचे नहीं सिंह-सिंही उड़ने को,
उनके गौरव इसी मृण्मयी से जुड़ने को।"

कायर ही पृथिवी को, मैदान को, छोड़कर भाग सकते हैं। वीर तो भूमि के ही लिए हैं—हमें अपनी भूमि और अपने स्तर पर ही रहना शोभा देता है :

यही उचित है, इष्ट हमें अपना ही स्तर हो;
भू पर उलकापात, स्वस्ति-गृह है ऊपर जो!
हम अपने ही धरा-धाम के हैं अभिलाषी
मर्त्यभूमि में चाह चिरन्तन के आश्वासी,
फूल रहे हम इसी मेदिनी के फूलों में
झूल रहे ज्यों कण्ठहार बिंध कर शूलों में।

दुःख और सुख में हमें अपनी मर्त्यभूमि ही वरेण्य है, अपनी मातृभूमि ही सेव्य है।

इस प्रकार आज के इस कवि ने मानव की 'खंडित मूर्ति' पुनः अभिमंडित की है, और अपनी ही इस भूमि और अपने ही कर्म में पुनः आस्था उत्पन्न की है। इतने महत्त्व की उद्भावना इनमें भरकर भी यह दृष्टव्य है कि कवि ने इस प्रतिष्ठा को प्रासंगिक स्थान ही दिया है। वस्तुतः यह तो 'मानव' को प्रतिमा, विग्रह, वपु या रूप रेखा है—अब तक तो यह भी कहीं नहीं था। मूल 'प्राण' तो आधिकारिक वस्तु में स्पंदित मिलते हैं—दो स्थलों में वे 'प्राण' प्रकट हुए हैं। एक कृष्ण के बाल-दर्शन में, वंशीधारी कृष्ण के दर्शन में, और उस दर्शन के संदेश में, दूसरे नकुल के वंशीधारण में। आदि का कृष्ण-दर्शन नकुल के वंशीधारी अन्तिम दर्शन से मिलकर जैसे इस काव्य के आदि-अन्त को एक कर रहा है।

हीनता-भाव-रहित हो जाने पर स्वस्थ मानव-निर्माण मात्र से कर्म-व्यापार में अभीप्सित सुख नहीं मिल सकता। इस दुःख-सुखपूर्ण, प्रपंच-छल पूर्ण गरल-अमृतपूर्ण वसुधा में वंशी का वह मधुर प्रेम भरा स्वर ही सार है, वही इस जग के समस्त भेद में अभेद का विश्वास भर सकता है। युधिष्ठिर ने कृष्ण की वंशी का वह स्वर सुना और वे उस स्वर में रँग गये—युधिष्ठिर ने उस मुरली का ऐसा कौनसा विमोहक स्वर सुना और समझा था?—युधिष्ठिर सोच रहे हैं :

साधव, माधव, मात्र तनिक यह ध्यान तुम्हारा,
बहा गया है रोम रोम में सुस्वर धारा,
इस भव में बस जहाँ शर-क्षेपण की दूरी
मानी जाती माप वीर के गुण की पूरी;
लय-स्वर हैं निःशेष धनुष की टंकारों में,
आक्रन्दित हैं हृदय पुरुष की हुँकारों में,
वहाँ एक बस तुम्हीं अधर पर मुरली धरकर,
फूँक रहे हो प्राण-प्राण में निज प्राण-स्वर,
इतने में रस-धार-[बह उठी वह उर-उर की
उस कदम्ब के तले बज उठी मोहक मुरली।

× × ×

दूर-दूर तक गई वेणु-वादन की द्रुत लय
जड़ तक चेतन हुआ, निखिल चेतन ज्यों तन्मय

मुरली का स्वर जड़-चेतन का प्राण था। पर इससे भी अधिक युधिष्ठिर ने अनुभव किया—

वह मुरली जो खींच वनमृगी को भी लाई
देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगाई,

यह मुरली-स्वर का गूढ़ रहस्य है—उस स्वर से आकर्षित होकर वनमृगी क्यों चली आयी? उस मुरली-ध्वनि में अभय का संदेश था। प्रेम-माधुर्य के अतिरिक्त और 'अभय' का भाव कहाँ है? कहाँ है अन्यत्र वह स्थान जहाँ प्राणों की भीति भाग सकती हो? सेना, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र और आतंक में विश्वास रखनेवाले एक क्षण रुककर युधिष्ठिर की भाँति विचार तो करें—संसार के इतने दीर्घ इतिहास में अस्त्र-शस्त्र का बल कब कितने प्राणियों को निर्भय कर सका है? अस्त्र-शस्त्रों पर हम जितना अधिक विश्वास करते गये हैं, उतना ही अधिक विश्वासघात हुआ है—उतना ही भय अधिक बढ़ा है। वह भय बढ़ते-बढ़ते आज यहाँ तक पहुँच गया है कि अब कोई भी प्राणी अपने को कहीं भी निरापद नहीं समझता! युद्ध प्रतिदिन घहरते सुनाई पड़ते हैं, और उनके दुष्परिणाम को जीवन-यापन में प्रतिक्षण आज अनुभव किया जाता है। हाय री मृगतृष्णा! इसीमें तो विश्वास कर मणिभद्र ने अन्त में युधिष्ठिर से कहा था कि आप 'नकुल' को क्यों, अर्जुन को

क्यों प्राण दान नहीं दिलाते—मणिभद्र ने युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा :

ऐसे पुरुष प्रवीर (भीम अर्जुन से अभिप्राय है) उदित होते हैं कब-कब,
इस जगती का दुरित दैन्य खोते हैं कब-कब ?
होते हैं अवतरित मूर्ति बनकर त्राता की

× × ×

रक्षक सब के और सभी से संरक्षित वे
होते हैं युग-काल-पुरुष ज्यों परिलक्षित वे।
छोटों का प्रतिपाल, वही उनका जीवन-प्रण।

जीवन-प्रण ही तो मनुष्य का धर्म होता है। तभी युधिष्ठिर बड़ों के धम का मर्म यों स्पष्ट करते हैं :

छोटे के भी लिए बड़े से बड़ा समर्पण—
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण !

छोटे के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना ही यथार्थ धर्म है; किन्तु हो रहा है उल्टा :

सरल सत्य यह, तदपि हाय ! उलटे पर मरती,
गरल ग्रहण कर निज-विरुद्ध जगती आचरती।
कथित बड़े जन सोच रहे हैं—इस भूतल के
जन जितने हैं जहाँ कहीं हलके से हलके,
रहने उनके लिए न देंगे संजीवन-कण,
सुख सब अपने अर्थ, अन्य का शोषण, शोषण।

यहाँ आकर कवि 'शोषण' शब्द का प्रयोग करता है, और इस शब्द द्वारा ही आजकी स्थिति को भी उभारकर दिखाता है। तभी, वह आगे यह निदान प्रस्तुत करता है :

उन दलितों में प्रतिक्रिया विस्फोटित होती
दुःशासन में उभर शान्ति वसुधा की खोती
करना है यदि हमें यहाँ यह पाप निवारण
हो अभीष्ट सर्वत्र प्रेम का पूर्ण प्रसारण,

करना होगा बड़ा त्याग निज सुखजीवी को,
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को—

इसी को और परिपुष्ट करते हुए वे कहते हैं :

लेना होगा निखिल क्षेमव्रत निर्भय हमको,
देना होगा बड़ा भाग लघु से लघुतम को।
लघु से लघुतम कौन, नहीं यदि हों हम खोटे,
वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे,

उनका वह गाण्डीव घहरता रहता जब तक,
दुष्टजनों का हृदय हहरता रहता तब तक।
लुप्त हुए यदि वही, नीचे होंगे उच्छृङ्खल,
फैल जायगा निखिल लोक में उनका शृङ्खल।

कैसी प्रभावोत्पादक युक्ति मणिभद्र ने दी है। संसार की रक्षा गाण्डीव और गाण्डीवधारी ही कर सकते हैं। और तब युधिष्ठिर अपनी स्वाभाविक दृढ़ता से इस मृगतृष्णा को विच्छिन्न करते होते हैं :

सोच रहे हैं आर्य कि गाण्डीवी के खरशर—
कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर।
मुझको तो विश्वास नहीं है रञ्चक इसमें,
देंगे कैसे अमृत बुझे, स्वयमपि जो विष में!

भला युद्ध से शान्ति मिल सकती है? युद्ध से युद्ध मिल सकता है, शान्ति नहीं। और संसार के इतिहास ने हमें सदा सिद्ध किया है। शान्ति का मार्ग तो त्याग का और प्रेम का मार्ग है—

धरना होगा आत्मदान के पावन मगको,
नवजीवन परिपूर्ण जिन्हें करना है जग को।

इस आत्मदान के भाव ने ही तो उन्हें 'नकुल' के जीवन की याचना के लिए प्रेरित किया और इस आत्मदान के साथ मानव-प्रतिष्ठा के साथ मानव-नव-निर्माण का संदेश पूर्ण होता है। लघु को अपनी लघुता का क्षोभ नहीं होना चाहिए—पर मानव के नव-निर्माण के लिए जो बड़े हैं उनका एक स्वाभाविक दायित्व है—युधिष्ठिर कह रहे हैं।

उन्हें (बड़ों को) दैव ने दिया जन्म के साथ बड़प्पन,

छोटों के महत्त्व का एक और कारण भी युधिष्ठिर ने दिया है :

जितना आगे उदित हुआ है जो जन हम में
उतना आगे चला गया वह जीवन-क्रम में
अक्षय जीवन स्रोत हमारा उसके भीतर
चला गया है बहुत दूर तक इस अवनी पर।
यथाशक्ति सब भाँति उसे रक्षित रख निर्भय,
होती है उपलब्ध काल के ऊपर सुविजय।

छोटे की रक्षा, उसके लिए बड़े-का बड़े में बड़ा त्याग ही वह मार्ग है, जिससे संसार में कभी अशान्ति नहीं हो सकती; जिससे काल के ऊपर सुविजय प्राप्त होती है। त्याग ही हल है, सम-वितरण नहीं, यह भी यहाँ ध्वनि है। प्रस्तुत दृष्टान्त में 'मणिभद्र' के पास अमृत की केवल एक ही बूँद तो है—और पाँच हैं वहाँ जिन्हें उसकी आवश्यकता है। सम-वितरण का सिद्धान्त यहाँ समस्या का हल कैसे प्रस्तुत कर सकता है। यहाँ त्याग ही हल है, और त्याग समस्त समस्याओं का हल है, और सब काल का हल है। और यह त्याग छोटों के पक्ष में होना चाहिए। बड़प्पन का यथार्थ उपभोग इसी त्याग में है—यही उपनिषद के अमर वाक्य का सत्य सिद्ध होता है : 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा'। यह त्याग स्वेच्छा से विचारपूर्वक युधिष्ठिर की भाँति होना चाहिए—और इसमें प्रेम परिप्लावित होना चाहिए। युधिष्ठिर ने मणिभद्र से आगे कहा है।

नकुल पड़ा है वेणु लिये जो अपने कर में,
उसे देखकर याद आ रहा इस अवसर में।
सोच रहा था बात आज मैं मुरलीधर की,
मिले प्रथम वे मुझे फूँकते वेणु अधर की।

उस वेणु का अमर संदेश ही तो युधिष्ठिर में व्याप्त हो गया था और उनकी आस्था अटल हो गयी थी; तभी वे यह अपना अभिमत प्रकट कर रहे हैं :

देखा है, अब लिया उन्होंने चक्र सुदर्शन,
क्या इस हेतु कि पूर्व भ्रान्ति का करें प्रदर्शन ?
नहीं-नहीं, वे प्रकट करेंगे—प्रेम प्रबल है,
ध्वनित करेंगे स्वयं, अन्य पन्था निष्फल है।

और यह है वह संदेश, वह स्वर, वह प्राण जो 'मानव' का उसके कल्याण

का यथार्थ रहस्य है। आज हमारे कवि युद्ध पर विचार करते हैं, किसी-न-किसी बहाने मणिभद्र की भाँति युद्ध का पोषण करते हैं—कोई उसे बायलाजिकल आवश्यकता बताता है, कोई उसे विकास की आवश्यक सीढ़ी समझता है, कोई उसे ऐतिहासिक और प्राकृतिक औषध सिद्ध करता है, कोई उसे प्राथमिक उपचार के रूप में ग्रहण करने का आग्रह करता है और भी न जाने कितने 'वाद' और कितनी युक्तियाँ युद्ध को पोषण करने के लिए साहित्य में अवतीर्ण हुई हैं। पर इस कवि की यह कलामय वाणी, मूर्त, साकार, विचित्र चित्रों में से अभिव्यक्त और प्रतिध्वनित होती हुई एक लघु किन्तु दृढ़ संकेत से मूल रहस्य को उद्घाटित कर रही है।

इस काव्य में कथानक भी है, घटनाएँ भी हैं, विविध चरित्र भी हैं और विविध रस भी; भाषा का मार्दव और अलंकारों की कोमल साभिप्राय छटा भी किन्तु इन सब में से भी एक बात विशेष लक्षित होती है कि मूल-वस्तु और मूल-काव्य 'युधिष्ठिर-मणिभद्र' संवाद में है। इसी का प्राधान्य है। वस्तुतः आज का कवि संवाद-प्रिय हो गया है। वह संवाद भी नाटकीय नहीं, 'जिज्ञासा-समाधान' का संवाद। युग में उसका कारण निहित है। बौद्धिक प्राणी कार्य को महत्त्व नहीं देता, 'विचार' को महत्त्व देता है। युक्ति-तर्क-प्रमाण से वह जीवन-क्रम के सिद्धान्त को सुनिश्चित कर लेना चाहता है। उसी युगीन आवश्यकता की दृष्टि से कवियों को महाभारत-पुराण से ऐसे-ऐसे दृश्य निर्वाचित करने पड़ते हैं। ऐसे स्थलों और संवादों के नियोजन में सुकवि को बड़े कौशल का उपयोग करना पड़ता है, कहीं ऐसे वार्त्तालाप मात्र बातचीत विवार या भाषण का रूप न ग्रहण कर लें? उसे इन संवादों में पात्रों के चरित्र का शील परिपूर्ण कर देना है। इस काल में गुप्त जी इस युग के समस्त कवियों को पीछे छोड़ गये हैं। काव्य-विधान में इस 'नकुल' की समस्त घटना एक दिन-भर की है; प्रायः सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की। समस्त काव्य में युधिष्ठिर के चरित्र का सत्व मार्दवपूर्ण औदार्य के साथ अभिव्यक्त हुआ है। मैं इस कवि की इस कला को, जो अभी तक उपेक्षित रही है, उस समस्त श्रद्धा के साथ प्रणिपात करता हूँ, जिस श्रद्धा से समस्त जगद् के समस्त श्रद्धालु महात्मा गाँधी के समक्ष नत होते थे।



नारी और त्यागपत्र

प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास हिन्दी के मूर्धन्य पर आसीन होने योग्य नहीं हैं। 'गोदान' उनकी सब से महत्व-पूर्ण कृति है। उसके अतिरिक्त 'ग़बन' 'सेवासदन'; 'रंगभूमि' आदि में भी बहुत-कुछ है जो अमर रहेगा। हिन्दी में इनसे टक्कर लेने वाले उपन्यास बहुत नहीं प्रकाशित हुए। जो हुए वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं, जैसे 'त्यागपत्र', 'नारी', 'चित्रलेखा', 'शेखर' इत्यादि।

श्री जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' और श्री सियारामशरण गुप्त के 'नारी' इनमें कुछ इस प्रकार की समता और विषमता है जो तुलनात्मक अध्ययन को रोचक और उपयोगी बना देती है।

त्यागपत्र और नारी दोनों ही में एक नारी की कहानी है। त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है, और नारी जमुना की। मृणाल और जमुना दोनों के ही व्यक्तित्वों के मूल में अतृप्ति है। दोनों ही हमारे सन्मुख एक अभुक्त वासना लिये आती हैं। मृणाल के तो जीवन का ही आरम्भ इस अतृप्ति से होता है। उसके माता-पिता नहीं हैं। भाई का स्नेह, उनके स्नेह की कमी को भर नहीं पाता। उसको स्नेह की झलक एक दूसरे व्यक्ति से मिलती है। पर मिलने के साथ ही वह एक तीखा घाव छोड़ कर सदा के लिए मिट जाती है। भावज की कठोर ताड़ना उस अभाव की अग्नि को और भी भड़काती है, और अन्त में उसका बेमेल विवाह एवं पति की यन्त्रणाएँ इस जीवन-व्यापी अतृप्ति में पूर्ण आहुति बन जाती हैं। इस प्रकार वासना पूर्णतः अभुक्त और अतृप्त रह कर उसके जीवन में एक अद्भुत गति और शक्ति का सञ्चरण करती है। जीवन के मध्याह्न तक तो उसे इस वासना के संस्कार का उचित माध्यम नहीं मिल पाता, और वह एक उद्दाम तीव्रता लिये झुलसती और झुलसाती—जीवन को मानों चीरती हुई—भटकती रहती है। बीच में वह पातिव्रत की बात करती है, अपने पति के साथ समझौते का

प्रयत्न करती है, एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति—कोयले-वाले—के साथ ममता का खेल करती है, पत्नी-धर्म के निर्वाह का दावा करती है। पर यह सब कुछ जैसे एक तीखा व्यंग्य है। सचमुच चारों ओर से नकार प्राप्त कर मृणाल का जीवन ही एक तीव्र व्यंग्य बन गया है।

जमुना का व्यक्तित्व व्यंगमय नहीं है। कारण यह है कि उसमें आरम्भ से ही निषेध और स्वीकृति का मिश्रण रहा है। उसको चारों ओर से नकार ही नहीं मिला। आरम्भ में पति का मुक्त प्रणयदान, उसके चले जाने पर श्वसुर का स्निग्ध वात्सल्य, और उनके मरने के बाद हल्ली के स्नेह में उसे जीवन की मधुर स्वीकृति भी मिली है। इसके साथ ही बाद में पति की उपेक्षा में, गाँव वालों के—विशेषकर चौधरी के—कटु-व्यवहार में उसे तिरस्कार भी मिला है। परन्तु कुल मिलाकर वास्तव में यह नकार उस स्वीकृति से कहीं हल्का बैठता है। इसीलिए जमुना कई बार विचलित होकर भी विश्वास नहीं खो पाती, जीवन की स्वीकृति का अपमान नहीं कर पाती। जीवन की चरम परिणति में भी—जब वह पति का ध्यान छोड़ एक दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने का निश्चय कर लेती है—वह जीवन को स्वीकार ही करती है, उसका निषेध नहीं करती। उसके जीवन में अतृप्ति है। उसकी वासना प्रणय के अभाव में अतृप्त और अभुक्त रहती है। परन्तु उसके साथ ही उसको व्यक्त और तुष्ट करने का साधन भी तो पुत्र-रूप में उसके पास है। वह गृहिणी है। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का भी, जिसके समतल थामले में हल्ली-जैसा सुन्दर पौधा पनप रहा है, उसकी वासना पर अधिकार है। इसलिये उसके व्यक्तित्व में मृणाल की-सी तीव्रता और गति नहीं रह गई; परन्तु विश्वास की प्रशान्त गम्भीरता उसमें है। मृणाल यदि लैम्प की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है तो जमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ बिल्कुल नहीं है।

इन दोनों पात्रों के व्यक्तित्वों के अनुसार ही दोनों उपन्यासों के मूल-प्रश्नों में भी साम्य है।

इन दोनों के रचयिताओं की विचारधारा की एक दिशा है। दोनों ही दार्शनिक या सामाजिक शब्दावली में गाँधी-नीति में, और मनोविश्लेषण की शब्दावली में आत्म-पीड़न में विश्वास करते हैं। दोनों ही एक स्वर में कह उठते हैं—

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में मिल जाता है।"—त्यागपत्र

"लोग ऊपर-ऊपर देखते है कि इसे दुख है। किसी को दुख ही दुख हो तो वह जिन्दा कैसे रहे ? आज तो पूरा उपास करने की सोचली है। आनन्द इसमे भी है।"—नारी

और अधिक स्पष्ट किया जाय तो वास्तव मे इस दृष्टिकोण का निर्माण अहिंसा के आधार पर काम की स्वीकृति के द्वारा हुआ है।

दोनो उपन्यासो मे आत्म-व्यवथा मे जीवन की शक्ति का मूल स्रोत माना गया है। कष्ट के कारणो से घृणा न करते हुए, कष्ट की अनिवार्यता से त्रास न खाकर उसमे आनन्द की भावना करना अहिंसा है, और अहिसा यही सिखाती है कि अभुक्त वासना का वितरण करना ही उसकी सफलता है। मृणाल अन्त मे जाकर इसी उपचार को ग्रहण करने मे अपनी मुक्ति समझती है। जमुना मे यह भावना प्रारम्भ से ही वर्तमान है। परन्तु दोनो के दृष्टि-कोणो मे एक अन्तर है—नारी का विचार धारा मे समाज-नीति की मर्यादा का रक्षण है, परन्तु त्यागपत्र मे यह बात नही है। जमुना के स्रष्टा ने इस बात का ध्यान रखा है कि दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करने मे भी वह समाज-नीति का उल्लङ्घन न कर पाये। जमुना जिस वर्ग की नारी है, उसमे पुनर्विवाह या दूसरा घर बसा लेना जायज है। इसके विपरीत त्यागपत्र मे साभाजिक मानो की अन्तिम स्वकृति नहीं है। पति के होते हुए भी मृणाल अपने प्रति सद्व्यवहार करने वाले व्यक्ति को शरीर-समर्पण कर बैठती है। और उत्तेजना मे आकर नही, ठण्डे मस्तिष्क से। जैनेन्द्रजी नीति की चहारदीवारी को तोड जीवन मे प्रवेश करना शायद आत्म-कल्याण के लिए उचित समझते है, परन्तु सियारामशरण जी समाज की मर्यादा-भग करना श्रेयस्कर नही मानते।

दोनो उपन्यासो के मूल प्रश्नो को ऋजु-शैली से समझिए—

सबसे पहले दो नारिया अपने जीवन का सघर्ष लेकर हमारे सामने आती हैं और हमारे मन मे प्रश्न उठता है कि नारी-जीवन की मुक्ति किसमे है—विवाह की मर्यादा मे, या प्रवृत्ति के उपभोग मे ? प्रत्यक्ष रूप मे यही धारणा होती है कि सियारामशरण जी प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए भी विवाह की मर्यादा के पक्ष मे हैं और जैनेन्द्र जी समाज-मर्यादा का आदर करते हुए भी प्रवृत्ति के ही समर्थक है। पर यह तो हमारे अध्ययन की पहली मज़िल है। त्यागपत्र और नारी का मूल प्रश्न अभी हमारे हाथ नही आया। अभी और आगे चलना है और उसके लिए हमे मृणाल और जमुना के व्यक्तित्वो के पार देखना पड़ेगा क्योकि त्यागपत्र और नारी स्पष्टतः ही समाजिक समस्या के उपन्यास नही है। उनका—विशेष-

कर त्यागपत्र का—सम्बन्ध मानव-जीवन के मौलिक प्रश्न से है : जीवन की मुक्ति क्या है ?

त्यागपत्र के साथ यह विशेषता लगा देने का अर्थ यह है कि नारी में पाठककी दृष्टि उसके सामाजिक समस्या वाले पहलू पर अपेक्षाकृत अधिक टहती है : मृणाल की अपेक्षा जमुना समाज की इकाई ज़्यादा है, उसके जीवन में सामाजिक समस्या भी थोड़ा-बहुत महत्व तो रखती ही है। लेकिन फिर भी यह पहिली मंज़िल तो आपको पार करनी ही होगी, तभी आप इन उपन्यासों की अन्तर्धारा में प्रवेश कर सकेंगे। यहां आकर मृणाल और जमुना उपलक्ष्य बन जाते हैं—समाज तथा पुरुष और नारी के आवरणों को पाकर ऐसे ये दोनों शुद्ध व्यक्ति रह जाते हैं और जीवन का समाधान ढूंढ़ने में व्यस्त दिखाई देते हैं! विधान या प्रवृत्ति ?—यह इनका मूल प्रश्न है और यही सामाजिक मानव का चिरन्तन प्रश्न भी है।

जैसा मैंने ऊपर कहा, जैनेन्द्रजी विधान का साधारण रूप में आदर करते हुए भी अन्तिम परिणति पर पहुँच कर उसका निषेध कर देते हैं। सर एम० दयाल का त्यागपत्र पर सही करना स्पष्ट रूप में जैनेन्द्रजी का विधान के निषेध पर सही करना है। वह महसूस करते हैं : 'कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों ? सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है……इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा।'

आगे एक प्रश्न उठता है—'पर क्या…आ ?' यहां आकर अधिकांश संक्रान्ति-काल के विचारकों की भांति वे घबरा कर रुक जाते हैं। परन्तु उनकी आस्था, जिसका पोषण गांधी-नीति के प्रभाव में हुआ है, उनकी मदद करती है; और वे अहिंसा या तपस्या में जीवन का सामाधान मान लेते हैं—यद्यपि वह पूर्णतः उनके घट में उतर जाती है, इसमें मुझे सन्देह है। उनके पास एक यही उत्तर है और यही उत्तर सियारामशरण जी के पास भी है। दोनों का प्रश्न एक है, उत्तर भी एक है; परन्तु किया भिन्न है।

सियारामशरण जी को जीवन-विधान की गड़बड़ का इतना तीखा अनुभव नहीं होता, लेकिन वे उस पर सन्देह अवश्य करते हैं। उसको तोड़ने का लोभ भी उनको कम नहीं होता है—क़रीब-क़रीब तोड़ ही देते हैं—लेकिन अन्त

में उन्हें उसी की ओर लौटना पड़ता है। वे मानो इस प्रकार सोचते हों—पीड़ा जीवन में अनिवार्य है, उसी में आनन्द की भावना कर लेना जीवन का समाधान प्राप्त कर लेना है; और प्रवृत्ति के बन्धन की पीड़ा ही सच्ची पीड़ा है।

इस प्रकार आत्म-पीड़न की फ़िलासफ़ी में विश्वास रखने वाले ये लेखक दो विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा जीवन का समाधान ढूँढ़ निकालते हैं—जैनेन्द्र जी विधान से युद्ध करते हुए और सियारामशरण जी प्रवृत्ति से लड़ते हुए।

दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों व्यक्तित्वों के अन्तर को स्पष्ट कर देता है। प्रवृत्ति के समर्थक जैनेन्द्रजी का अहं स्वभावतः ही अधिक बलिष्ठ और तीखा होना चाहिए, उधर विधान में आस्था रखने वाले सियारामशरण जी में अधिक आत्म-निषेध होना उतना ही स्वाभविक है। दोनों व्यक्तियों का जीवनादर्श एक है—पूर्ण अहिंसा की स्थिति प्राप्त कर लेना, अर्थात् अपने अहं को पूर्णतः घुला देना। इस साध्य के लिए सियारामशरण जी की साधना अधिक हार्दिक है, नैतिक दमन का अभ्यास उनको अधिक है, और उनका अहं सचमुच बहुत काफ़ी घुल चुका है। अहिंसा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व का अंग बन चुकी है। इसके विपरीत जैनेन्द्र का अहं अब भी इतना सजग और पैना है कि उनकी सादगी, विनम्रता और सरलता को चीरता हुआ क्षण-क्षण सामने आ जाता है। इसीलिए अपने प्राप्य के लिए उनको सियारामशरण जी की अपेक्षा अधिक संघर्ष करना पड़ता है। उनके जीवन में संघर्ष अधिक है, ठीक उतना ही अधिक जितना मृणाल के जीवन में जमुना की अपेक्षा। सियारामशरण जी में हृदय का अंश अधिक है, वे अधिक आस्तिक हैं। जैनेन्द्र जी में बुद्धि की तीव्रता है, अतएव उनके मन में सन्देह का संघर्ष अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र अधिक व्यक्तिवादी हैं—सियारामशरण जी में सामाजिकता की भावना अधिक है। सियारामशरण जी के लिए अहिंसा का आदर्श कुछ सीमा तक प्राप्त भी है, परन्तु जैनेन्द्र जी के लिए अभी वह एक प्राप्य-मात्र है। उनकी जागरूक मेधा और उससे भी अधिक जागरूक अहंकार स्वभाव से ही अहिंसा के आत्म-निषेध के प्रतिकूल है। इसीलिए उनको उसके प्रति आग्रह अधिक है। यही कारण है कि उनके उपन्यास में संघर्ष तीखा और सशक्त है।

मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य की शक्ति और तीव्रता उसके स्रष्टा के अहं की शक्ति और तीव्रता के अनुसार ही होती है। दुर्बल अहं, अथवा

किसी भी कारण से दबा हुआ अहं, यहाँ तक कि घुला हुआ अहं भी, आर्द्रता की ही सृष्टि कर पाता है, शक्ति की नहीं। निदान त्यागपत्र में जहाँ तीव्रता है वहाँ नारी में आर्द्रता है।

शैली में भी दोनों की वही सम्बन्ध है जो उनके व्यक्तित्व में—यानी त्यागपत्र की शैली में तीखापन और वक्रता है, नारी की शैली में कोमलता और सरलता है। त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग़ को चीरती हुई आगे बढ़ती है, और नारी की कहानी को सुनकर जैसे पीड़ा मधुर मधुर घुल उठती है। त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है, उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है। अगर आपके सामने कोई व्यक्ति मुँह की रंगत को बिगाड़ता हुआ तकलीफ़ के साथ ज़हर पीता हो तो आप कैसा महसूस करेंगे? और अगर यही व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भाव-परिवर्तन के गम्भीरता के साथ ज़हर को गट-गट कर जाय, तो आपको कैसा लगेगा? मृणाल की कुछ आत्म-यन्त्रणाएँ ऐसी ही हैं। इसके विपरीत नारी की शैली में घरेलू स्निग्धता है। जमुना आत्म-व्यथा में विश्वास करती हुई भी अपने प्रति स्निग्ध और करुण है। अतएव नारी की कहानी में कोमल-स्निग्ध गति है। उसमें हृदय को स्पर्श करने वाले स्थल अनेक हैं, हृदय को चीरने वाले स्थल नहीं हैं। नारी की यह करुण कहानी हल्ली के बाल-सुलभ क्रिया-व्यापारों से मन बहलाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती है—यहाँ तक कि कहीं-कहीं इसकी गति मन्द पड़ जाती है और पाठक सोचता है कि हल्ली के ये खेल और मुक़दमे कुछ कम होते तो अच्छा था, क्योंकि कहीं-कहीं वे कहानी को उलझा लेते हैं। नारी की कहानी का यह दोष उसके प्रभाव में बाधक होता है।

इन दोनों कहानियों की गठन में एक-एक स्थल ऐसा मिलता है जहाँ पाठक का मन रुककर उसकी स्वाभाविकता पर सन्देह कर उठता है।

त्यागपत्र में जब मृणाल पति के घर से निकल कर एक कोयले-वाले को ग्रहण कर लेती है तो शायद अनेक पाठकों की भाँति मेरा मन भी पूछ उठता है—क्या एक शिक्षिता मध्य-वर्गीय बाला के लिए यह स्वाभाविक है? क्या वह अपने पैरों पर नहीं खड़ी हो सकती थी, जैसा कि उसने बाद में कुछ दिन के लिए किया? और अगर उसे किसी पुरुष के सहारे की ही आवश्यकता थी तो क्या कोयले-वाले की अपेक्षा अच्छे चुनाव की गुंजाइश नहीं थी? यह सन्देह एक बार ज़रूर उठता है। लेकिन इसका समाधान प्राप्त कर लेना भी

समझदार पाठक के लिए असम्भव नहीं है। मृणाल के व्यक्तित्व में बुद्धि और संवेदना की प्रखरता के कारण एक असाधारणता है। अतएव एक साधारण मध्यवर्ग की युवती को दृष्टि में रखकर उसके व्यवहार की समीक्षा करना ग़लत होगा। जीवन में नकार पाकर उसका स्वभाव से ही संवेदनशील मन अतिशय संवेदनशील होगया है। बस, उस आख़िरी धक्के से वह एकबार कुछ समय के लिए समग्रतः डूब जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस पर अहसान करने वाला पहला पुरुष बड़ी आसानी से कुछ समय के लिए तो उसके जीवन में प्रवेश कर ही सकता है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की स्त्रियाँ फ़क़ीरों के साथ भाग जाती हैं! और मृणाल के साथ तो यह स्थिति मानसिक विवशता के अतिरिक्त चैलेञ्ज का परिणाम भी हो सकती है!! शरत् के पाठक को इस प्रकार के पात्रों को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नारी में भी एक स्थल संदेहप्रद है। ज्यों ही जमुना की कहानी अन्तिम स्थिति पर पहुँचती है, हल्ली का एक साथी हीरा, सिर्फ़ हल्ली से बदला लेने के लिए, जमुना के पति को एक ऐसा पत्र लिख देता है कि सारा खेल बिगड़ जाता है। यह पत्र इतना कौशलपूर्ण है कि इसको हीरा-जैसा छोटा बालक तभी लिख सकता था जब सियारामशरण जी इबारत बोलते गये होते। माना कि यह घटना जमुना के व्यक्तित्व-विकास में प्रत्यक्ष-रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु कथा के विकास में इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इसकी त्रुटि कथा-शिल्प की एक त्रुटि है। इसका समाधान मुझे बहुत सोचने पर भी नहीं मिल पाया।

यहीं आकर जैनेन्द्र जी और सियारामशरण जी की शैली का एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है—जैनेन्द्र जी अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं: प्रभाव को तीव्र करने के लिये उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक रूप में सर एम० दयाल की सृष्टि की है। वे प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल जजी से स्तीफ़ा दे देते हैं। यह उपन्यास-शिल्पी का अद्भुत कौशल है। इसीलिए, जब कभी जनेन्द्र जी सादगी में आकर टेकनीक या शिल्प से सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।

उधर सियारामशरण जी का लक्ष्य—कम-से-कम नारी में—एक सीधी-सच्ची करुण-स्निग्ध कहानी ही रहा है। उन्होंने जागरूक होकर प्रभाव को तीव्र करने का प्रयत्न नहीं किया, या किया है तो इतने हल्के हाथों से कि वह लक्षित नहीं होता। उदाहरण के लिए आप वह स्थल ले सकते हैं जहाँ एक दूसरा व्यक्ति जमुना के जीवन में प्रवेश करता है और जमुना उसे समर्पण कर देती है। यह सब ऐसे होता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। पाठक के मन में जमुना के जीवन का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार सरक जाता है कि वह बिलकुल नहीं चौंकता। इसके विपरीत आप मृणाल का समर्पण लीजिए। उसमें कितना व्यंग्य है, कितनी कचोट है, कितनी तीव्रता है! उसके जीवन का यह तथ्य पाठक के मन को चीरता हुआ, उसकी वृत्तियों को झन-झनाता हुआ, प्रवेश करता है।

त्यागपत्र का कौशल अपनी विदग्धता के बल पर अपने मेधावी शिल्पी की दुहाई देता है, और नारी का कौशल अपने को छिपाकर अपने स्नेहार्द्र शिल्पी की सिफ़ारिश करता है।

